

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॐ



सर्वोक्तुष्ठ धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अबोद्धज की अहंतुक्यप्रतिहता यवात्मासुप्रसीदति ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरिं-कथा-प्रीति न हो, श्रम ब्यर्थं सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष ६ { गौरांग ४७४, माय—पञ्चनाम ११, वार-गमोदशायी } संख्या ४
शुक्रवार, ३१ माद्रपद, सम्वत् २०१७, १६ मिस्रवतर १६६० }

श्रीश्रीगोकुलानन्द-गोविन्द-देवाष्टकम्

[श्रील विश्वनाथ-चक्रवर्ज्जी-ठक्कुर-विरचितम्]

कोटिकंदर्प-संदर्प-विध्वंसन — स्वीयरूपामृताप्लावितचमातल ।

भक्तलोकेत्तरणं सत्तरणं तर्पयन् गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हं नमः ॥१॥

यस्य सौरभ्य-सौलभ्यभाग-गोपिका भागलेशाय लक्ष्म्यावि तप्तं तपः ।

निन्दितेन्द्रीवश्वीक ! तस्मै सुहुगोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हं नमः ॥२॥

वंशाकांठयोः स्वरस्ते सचेत् ताल-रागादिमान् अत्यनुभाजितः ।

का सुधा ? वश कि ? का नु वैकुण्ठमुद ! गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हं नमः ॥३॥

यत् पदस्पर्फनात्युमजतत्कुचा धन्यतो योति गोप्या रमातोऽप्यलम् ।

यद् यशो दुःदुमेवोषणा सर्वजिद् गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हं नमः ॥४॥

यस्य केलालवास्वादने पावतां वशारुद्रादयो यान्ति नैवान्यके ।

आधरं श्रीधुमेतेऽपि पिवन्ति नो गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हं नमः ॥५॥

यस्य जीजामृतं सर्वधार्कर्षकं ब्रह्मसौख्यादपि स्वादु सर्वे जगुः ।
तत् प्रमाणं स्वयं द्याससुन्तुः शुको गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुभ्यं नमः ॥६॥
यत् षडैश्वर्यमप्यायैऽभक्तारमनि द्यात्मुद्यच्चमत्कारमानन्दयेत् ।
नाथ तस्मै रसाभोधये कोटिशो गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुभ्यं नमः ॥७॥
गोकुलानन्द-गोविन्द-देवाष्टकं यः एठेज्जित्यमुत्र कंठितस्त्वत् पदोः ।
प्रेमसेवापत्ये सोऽविरामात्मुरो सिंहुमज्जंमना वाञ्छितं विद्वताम् ॥८॥

अनुवाद—

हे गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम भक्तजनों को नय-
नानन्द प्रदान करते हुए करोड़ों कामदेवोंका दर्प
चूर्ण-विचूर्ण कर अपने सौन्दर्यामृतसे धरातलको छूवा
रहे हो, तुमको प्रणाम है ॥१॥

तुम्हारे अंग-सौरभ रूप सुखका भोग करनेवाली
गोपरमणियोंके किंचिन्मात्र सौभाग्यको प्राप्त होनेके
लिये वैकुंठमें निवास करनेवाली लद्मी भी कठोर
तपस्या करती हैं; नीलकमलकी शोभाको भी तिर-
स्कार करनेवाले, हे गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुमको
पुनः पुनः प्रणाम है ॥२॥

हे गोकुलानन्द गोविन्द ! यदि तुम्हारी वंशी या
तुम्हारे कंठका ताल और राग-रागिनियोंसे युक्त स्वर
कर्णगोचर होता है, तो उसके सामने, क्या अमृत,
क्या ब्रह्मज्ञान और क्या वैकुंठ सुख—ये सभी तुच्छ
प्रतीत होते हैं, तुमको नमस्कार है ॥३॥

हे गोकुलानन्द-गोविन्द ! ब्रजकी रमणियाँ तुम्हारे
श्रीचरण युगलके माधुर्य पर अपना स्तन-अर्पण कर
वैकुंठ निवासिनी लद्मीकी अपेक्षा भी परम कृतार्थ
हैं एवं तुम्हारे यशः रूपी दुन्दुभीकी घोपणा सबको
जय करती है, तुमको नमस्कार है ॥४॥

हे गोकुलानन्द-गोविन्द ! ब्रह्मा, रुद्र और दूसरे-
दूसरे देवगण तुम्हारे उच्चिष्ठ-महाप्रसादकी किंचि-
न्मात्र कनिश्च आस्थाइन करनेकी योग्यता प्राप्त हैं;
परन्तु उनके अतिरिक्त जन-साधारणके लिये वह
अतीव दुर्लभ है और वे ब्रह्मा आदि देवता भी आप
के अधर सम्बन्धी मधुका पान नहीं कर पाते हैं,
तुमको प्रणाम है ॥५॥

हे गोकुलानन्द-गोविन्द ! तुम्हारे भक्तजन ऐसा
बतलाते हैं कि तुम्हारा लीलामृत ब्रह्मसुखसे भी
सम्पूर्णरूपसे अधिक चित्तार्थक है। और तो क्या,
स्वयं वेदव्यासनन्दन श्रीशुकदेव गोस्वामी उसके
प्रमाण हैं, तुमको नमस्कार है ॥६॥

हे गोकुलानन्द गोविन्द ! तुम्हारा षडैश्वर्य सज्जन
भक्तोंके हृदयमें ध्यान किया जाकर अतीव अपूर्व
आनन्दको उत्पन्न करता है। हे प्रभो ! रससागर के
स्वरूपमें प्रसिद्ध तुमको करोड़ों नमस्कार हैं ॥७॥

जो आपके चरणयुगलकी प्रेम-सेवाको पानेके
लिये उत्कंठित होकर इस गोकुलानन्द-गोविन्दाष्टकका
नित्य पाठ करेंगे, वे शीघ्र ही माधुर्य सिन्धुमें निमग्न
अन्तःकरण होकर अपनी अभिलिपित प्रेमसेवा
पायेंगे ॥८॥

वैष्णव मर्यादा

पशु और मनुष्यमें अन्तर

इस संसारमें समस्त प्रकारके प्राणियोंमें मनुष्यका विशेषत्व और शेषत्व है। समस्त प्रकारके प्राणियोंमें एकमात्र मानव जातिमें ही चेतनताका उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। यों तो पशुओंमें भी चेतनताका कुछ विकाश देखा जाता है और सांसारिक हालिये पशु और मनुष्यमें अनेक विषयोंमें समानता भी है; आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि व्यापार दोनोंमें समान रूपमें हैं; फिर भी मानव पशुसे अधिकतर बुद्धिमान होते हैं। वह बुद्धि और कुछ नहीं, वहिक यह है कि मनुष्य लौकिक ज्ञानसे अतीत पारलौकिक ज्ञानसे सम्पन्न होता है।

तीन प्रकारके पारलौकिक ज्ञान

मनुष्यके पारलौकिक ज्ञानके तीन विभाग परिचित होते हैं। पाँचभौतिक शरीर और सूक्ष्म मनमें आत्मबुद्धि रखता हुआ ऐहिक और पारत्रिक-लौकिक और पारलौकिक दुःख-सुख भोग करनेकी प्रवृत्तिके बीचमें होकर मनुष्य जिस मार्ग पर चलता है, उसे कर्म-मार्ग कहते हैं। इसीका दूसरा नाम प्रवृत्ति मार्ग है। जिस समय शरीर और मनसे मिले हुए आत्म-परिचयमें मनुष्य लौकिक और पारलौकिक (स्वर्ग आदिके) भोगोंसे विरक्त हो पड़ता है, जिस समय मनुष्यके शरीर और मनकी सारी चेष्टाएँ बन्द हो जाती हैं, शान्ति ही जिस समय आराध्य बस्तु होती है, उस समय अप्रवृत्त शरीर और मन ज्ञानको लक्ष्यमें रख कर अज्ञान पथ पर चलते हैं, उस मार्गकी संज्ञा ज्ञान पथ है। इन दोनों प्रकारके मार्गोंसे भिन्न एक और मार्ग है, जिस पर चल कर विशुद्ध आत्मा द्वारा अप्राकृत तत्त्ववस्तुका अनु-

शीलन किया जाता है। यह तृतीय मार्ग ही नित्य अयनमार्ग या भक्तिमार्ग है।

भक्ति पथ केवल निवृत्ति मार्ग ही नहीं है अथवा प्रवृत्ति मार्ग भी नहीं है। भक्ति पथमें हृषणको भोग करनेकी प्रवृत्ति होनेके कारण उसे प्रवृत्ति मार्ग भी कह सकते हैं तथा उसमें जड़-त्याग होनेके कारण उसे निवृत्ति मार्ग भी कह सकते हैं। आत्म धर्ममें चेतनका स्वभाव प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गात्मक दोनों हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिसे चिद्वैचित्र्य है, जो नित्य है और तद्रूप वैभवके नामसे परिचित है। परमात्माकी नित्य प्रवृत्तिसे तद्रूप वैभव और जीवात्माकी प्रवृत्तिसे नित्य सेवा-चेष्टा सिद्ध है।

यदि जीव सेवा-चेष्टासे उदासीन हो जाय तो उसका रस-विलास या वैचित्र्य शान्त हो पड़ता है। तटस्थ शक्तिके विचारसे जीवका स्वरूप शान्त धर्म-भय होता है। गोलोक और उससे ऊपरके विभाग—गोलोकमें शान्त जीव नित्य सेवनसुख होकर चिद्वृत्तिका परिचय देते हैं। इसलिये भक्तियोगियोंका कहना है कि भगवद्गतिमें मानव मात्रका अधिकार है। मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे-दूसरे चेतनयुक्त प्राणियोंका भी कर्म और ज्ञानके पथमें तथा राज्यमें विचरण करना तो संभव है; परन्तु कर्म-ज्ञानके आवरणसे हुटकारा प्राप्त करने की संभावना पशुओंमें नहीं है।

भक्तोंके संग द्वारा ज्ञानी भी भक्त हो सकते हैं

हरि-विमुख ज्ञानीजन न तो जड़-विषयोंका भोग ही करना चाहते हैं और न नित्य सच्चिदानन्द वस्तुकी सेवा करना चाहते हैं। वे सच्चिदानन्द वस्तुको भी न्यूनाधिक रूपमें जड़ ही मानते हैं।

इसीलिये निवृत्ति मार्गमें उनकी इतनी अधिक अद्धा है। भगवद्गुरुकृत या वैष्णवजन वैकुंठ बुद्धिविशिष्ट होते हैं। वे कर्मी और ज्ञानी मानवोंकी तरह मायिक राज्यमें विचरण नहीं करते अथवा मायावाद द्वारा जीव और जगतका विचार नहीं करते या भोग्य और भोक्ताका विचार नहीं करते। विष्णु और वैष्णवकी कृपासे कर्मी और ज्ञानी दोनों ही न्यूनाधिक रूपमें भक्तिका सौन्दर्य देखनेका अवसर पाते हैं और उस भक्ति-सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर वे कृष्णको आकर्षण करनेवाला तथा अपने और अपने मित्रोंको आकृष्ट तत्त्व उपलब्ध करते हैं। ऐसा तभी संभव है, जब कर्म और ज्ञानके आवरण वैष्णवको वैष्णव जानने-में बाधक नहीं होते।

विमुखताका कारण

कृष्ण-दास्य ही जीवका स्वरूपगत धर्म है। परन्तु जीव जिस समय अपने इस धर्मकी उपेक्षा करता है—उसे भूल जाता है, उस समय जड़ीय अहंकार उसके स्वरूपको ढक लेता है, जिससे अब वह जड़ जगतको अपना भोग्य और अपनेको भोक्ता समझने लगता है। इस नश्वर अभिमानके कारण हरिसे विमुख हो पड़ता है और कर्म या ज्ञान मार्गका पथिक होकर प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्गका आदर करता है।

मायावादियोंका गुण-विचार असम्पूर्ण है

गुणोंसे उत्पन्न प्राकृत जगतमें हम लोग सत्त्व-गुणका जो अंश देख पाते हैं, वह विशुद्ध धर्म नहीं है, बल्कि मिश्र है, अपूर्ण है तथा हेय है। प्राकृत जगतमें सत्त्वगुण हेय और अपूर्ण होने पर भी वह चिदानन्द जैसा ही भावयुक्त होता है। चिदानन्दकी सत्ता इस जड़ जगतमें आंशिक रूपमें तथा नित्य जगत वैकुंठमें पूर्णतम रूपमें प्रकाशित है। परन्तु जो लोग मायिक अस्थिर युक्तियोंके बल पर यह कहना चाहते हैं कि चिन्मय वैकुंठमें कोई क्रिया आदिकी स्थिति नहीं है, वहाँ चिदानन्दका नित्य-पूर्ण कोई अजड स्थिति स्वीकृत नहीं हो सकती है—

वे लोग मायावादी कहलाते हैं। वे स्वरूपतः वैष्णव होने पर भी विमुख-वृत्ति द्वारा मोहित होकर मायावादी या अवैष्णव हो गये हैं। इस मायावादके पंजे से शुद्धजीव जितना ही अधिक छुटकारा पाता जाता है, वह अपने आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि कर उतने अधिक रूपमें अपनेको वैष्णव जान पाता है। वैष्णव की मार्यादाको भगवान्की मार्यादाके बराबर अथवा उससे भी अधिक जान लेने पर जीवात्माका नित्य स्वरूपगत धर्म स्फुरण होता है।

ऊँच-नीच मावोंकी स्थिति

प्राकृत जगतमें ऊँच-नीचके विचारसे श्रेष्ठता और हेयताका विचार होता है और क्रमोन्नति द्वारा जो परमोन्नत स्थानको प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करना ही सांसारिक मनुष्योंके लिये सबसे गौरवपूर्ण तथा महत्वपूर्ण बात है। हेयता, अनुपादेयता और अभाव —ये जीवके आनन्दमें बाधक होते हैं। आनन्दसमय जीव माया द्वारा बद्ध होने पर भी चेतनवृत्ति द्वारा परम उपादेय, सुखपूर्ण, अनन्त और पूर्ण मार्यादाको प्राप्त होना चाहता है—यह उसके नित्य स्वभावका ही परिचय है।

नित्य धामको आत्मराज्य, वैकुंठ, गोलोक और परद्योम आदि भी कहा जाता है। उस नित्यधाममें ही जीवकी परमोन्नत स्थिति है। वहाँ उस स्थितिके लिये चिद्विलास या चिदू विचित्रताकी नित्य स्थिति है। वह स्थिति मायिक राज्यमें होती तो बद्ध जीव मायावादीकी तरह वहाँ तक पहुँचनेमें समर्थ होता। परन्तु परम निर्मल शुद्ध जीवात्मा मायावादके जालसे मुक्त होने पर ही परम धाममें पहुँचकर वहाँ सेव्य-तत्त्व सचिच्चानन्द परम पुरुष कृष्णकी सेवा नित्यकाल तक करनेमें समर्थ होता है।

वैष्णव मर्यादाका श्रेष्ठत्व

जड़ जगतमें मायान्तर्गत मायावादी जितनी भी उच्चताका आदर्श क्यों न रखे, उससे विष्णुके नित्यदास वैष्णवोंकी मर्यादा अत्यधिक उन्नत होती है। ज्ञानीजन मायिक कल्पना द्वारा अपनेको जितना

भी उन्नत क्षयों न समझें—अपनेको वे भले ही परमहंस भी क्यों न मान लें, परन्तु तब भी मायक विचार उनका पीछा नहीं छाइते। इसलिये वैष्णव मर्यादा मलयुक्त ज्ञानी-परमहंसोंकी मर्यादावी अपेक्षा उच्च सोपानके ऊपर स्थित है। जब देह और मन आत्माकी नित्य सेवन-वृत्तिमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उस समय बद्धजगतमें रह कर भी उनका अपने में वैष्णव अभिमान होता है। वैष्णव अभिमान हो जाने पर कोई भी प्रकृत दंभ और अहंकार उसमें नहीं रह सकते। उस समय दैहिक और मानसिक हिसाको कोई भी वस्तु नहीं रह जाती।

उत्तम भक्तोंका वैष्णवाभिमान--चिदाभिमान होता है।

हाँ, जब तक दैहिक और मानसिक हिसाको कोई वस्तु रहती है और उस दशामें जो दैहिक और मानसिक वैष्णवाभिमान होता है, वह नरकका कारण होता है। इसीलिये वैष्णवजन उत्तमाभक्तिका अनुप्रान करने पर भी अपनेको कर्मगिश्च और ज्ञानगिश्च भक्त प्रचार कर आदर्श शुद्ध भक्तिकी स्थापना करते हैं। वास्तवमें वे शुद्ध भक्त होते हैं। जीवके शुद्ध स्वरूपमें कर्मगिश्च और ज्ञानगिश्च अभिमान नहीं होता। शुद्ध जीवात्माकी केवला भक्ति ही एकमात्र वृत्ति होती है; इसका कारण यह है कि कृष्ण सम्बन्ध है, कृष्ण-भजन अधिष्ठेय है तथा कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है—इस विषयमें वैष्णव परमहंसोंमें दो मत नहीं हैं।

वैष्णवी मार्यादा भङ्ग करनेका फल

कर्मी और ज्ञानीजन जिस समय कर्मगिश्च भक्त या ज्ञानगिश्च भक्त हो जाते हैं, उस समय वे शुद्ध-भक्तिका स्वरूप जान सकते हैं। आत्मवृत्ति द्वारा केवला भक्तिमें प्रतिष्ठित होने पर जीव, हरिसेवामें प्रतिकुल जड़ीय-विषयोंमें भोगकरनेकी कामना नहीं रखते और जो भोगबुद्धि रखते हैं, उनके विचारोंमें सहमत नहीं होते। ऐसे वैष्णवजनोंकी मर्यादा सबसे अधिक आवश्यक होती है। कभी-कभी कर्मी,

आनी और अन्याभिलाषी वैष्णव मर्यादाका उल्लंघन करते हैं; परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभुका कहना है कि जो लोग वैष्णव-मर्यादाका उल्लंघन करते हैं, उनको मैं ज़मा नहीं कर सकता—‘(वैष्णव) मर्यादा उल्लंघन आमि सहिते ना पारौं।’

वैष्णव सबके गुरु हैं, उनको उपदेश देना-मर्यादा भङ्ग करना है

कोई-कोई उच्च कुल, रूप, बल और पण्डित आदिके अहंकारमें चूर होकर वैष्णवोंको भी उपदेश देने लगते हैं। उनके इस कार्यसे मर्यादाका उल्लंघन होता है। वैष्णव सबके गुरु हैं, अतएव गुरुको उपदेश देनेसे मर्यादा भंगका दोष होता है। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभुजीने जगदानन्द पण्डितको श्रीमद् सनातन गोस्वामीकी मर्यादाको भंग करने के लिये निषेध किया था। श्रीरूप गोस्वामीने उपदेशामृतमें लिखा है—

“इष्टः स्वभावजनितैर्वृष्टुष्टरच दोषैः ।
न प्राकृतरचमिह भङ्गजनस्थ पश्येत् ॥”

वैष्णव-मार्यादा देनेमें अनिच्छुक व्यक्ति अपराधी और अवैष्णव हैं

इस ऐसा सुन पाते हैं कि कुछ आचार्य-संतान या गोस्वामियोंके वंशधर प्राकृत वैष्णवनके नशेमें मत्त होकर वैष्णव-मार्यादाको भंग कर बैठते हैं। फल यह होता है कि वे लोग नरक गामी होते हैं। वे लोग वैष्णवको अपनी जड़ आँखोंसे देखकर उन्हें साधारण मरणशील मनुष्य समझते हैं। ऐसे नारकी वैष्णवापराधी अवैष्णवोंसे पाँचरात्रिकी दीक्षा प्रहण न करनी चाहिए। श्रीहरिभक्तिविलासमें ऐसे लोगोंसे मन्त्र आदि प्रहण करना निषिद्ध बतलाया गया है—‘अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण निरयं ब्रजेत्।’ अतएव ऐसे लोगोंसे सर्वथा दूर रहना चाहिए। ऐसा होनेसे ही जगतमें विशुद्ध हरिभक्तिका प्रचार सम्भव है।

ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी

मात्सर्य

‘मात्सर्य’ शब्दका अर्थ व निर्मत्सर प्रेम धर्मका अधिकार निर्णय

मात्सर्य शब्दका प्रयोग विभिन्न स्थलोंमें विभिन्न अर्थोंमें होता है। परहितमें हेष, परश्रीवृद्धिमें कातरता, असूया (पराये गुणमें दोष लगाना) और ईर्ष्या आदि नाना प्रकारके अर्थ होते हैं। वैष्णव शास्त्रमें जहाँ कहीं भी मात्सर्य शब्दका प्रयोग हुआ है, उन सभी स्थानोंमें ऐसा दिखाई पड़ता है कि वह प्रेमके विरुद्ध भावका बोतक है। “धर्मः प्रेषित-कैतवोऽत्र परमोनिर्मत्सराणां सतां” —श्रीमद्भागवतके इस श्लोकमें परम धर्मके अधिकारीका स्वरूप बतलाया गया है। प्रेम-रस ही इस शास्त्रका निर्हित परम धर्म है। जो निर्मत्सर हैं, वे ही इस प्रेम-रसरूप परम धर्मके अधिकारी हैं। मात्सर्य का अभाव ही निर्मत्सरता है। यद्यपि टीकाकारोंने दूसरोंके सुखमें दुःखी और दूसरोंके दुखमें सुखी होनेको मत्सरता कहा है, तथापि इस शब्दका अर्थ विस्तारपूर्वक बतलाना आवश्यक है, अन्यथा वह सबके लिये बोधगम्य नहीं है।

काम-क्रोध आदि पड़िरिपु और उनकी उत्पत्तिका कारण

अविद्यामें पड़े हुए जीव पड़िरिपुके दुर्भेद्य चंधन में जकड़े हुए हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों को एक साथ पड़िरिपु या पड़वर्ग कहते हैं। ये अविद्या, अस्मिता, (मैं मेराका अभिमान), आशक्ति (अभिनिवेश), राग और द्वेषरूप पंच क्लेशके रूपान्तर हैं। जड़वमतुमें आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। कामके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत् गीतामें कहा है—

सङ्गत्संजायते कामः कामात्कोषोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्वति संमोहः संमोहस्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभूत्वाद बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २.६२-६३)

विषयोंमें आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है, किर कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है, बोधसे सम्मोह अर्थात् अन्याय रूपमें विषय लोभ, विषय लोभसे स्मृति-भ्रम अर्थात् मोह, मोहसे बुद्धिनाश अर्थात् हिताहित विवेक शून्यतारूप मद, मदसे विनाश अर्थात् जीवकी स्वरूप-विकृतिरूप मात्सर्य होता है।

रिपुओंके दमन करनेका उपाय

गीतामें इस पड़िरिपुको दमन करनेका उपाय बतलाया गया है—

एवं बुद्धे: परं बुद्ध्वा संस्तम्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुः महाबहो काम रूपं दुरासदम् ॥

(गीता० ३।४३)

बुद्धिसे भी अतीत (परे) जो चिद् घन जीव है, उसकी उपलब्धि करके निश्चयात्मिका सिद्धान्त द्वारा मनको वशीभूत करके दुर्बिजेय कामरूप शत्रुको जय करो।

दूसरे सभी रिपु मात्सर्यके ही अन्तर्गत हैं।

श्रीगीताके इस उपदेशसे यह स्पष्ट है कि स्व-स्वरूपके भ्रमसे कामरूप अंकुर पैदा होता है, फिर वही अंकुर क्रमशः मात्सर्यरूप वृक्षका रूप धारण कर कृष्ण-प्रेमरूप जीवके नित्यधर्मको चारों ओरसे ढक लेता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-ये पाँचों मात्सर्यके अन्तभूत हैं। क्रोधमें काम है। लोभमें क्रोध और काम है। मोहमें लोभ, क्रोध और काम है। मद शब्दसे धनमद, रूपमद, जातिमद विद्यामद आदि छः प्रकारके मर्दोंको ही समझना चाहिये।

मात्सर्य ही सब प्रकारके कृष्णोंकी जड़ है

जीवके समस्त प्रकारके क्लेश, अविद्या, पाप-वासना और पाप तथा पुण्यवासना और पुण्य—ये सबके सब मात्सर्यके आन्तर्गत हैं। जीवके प्रति दया, 'नाममें रुचि', एवं वैष्णव-सेवा—यह वैष्णवधर्म एक तरफ है एवं मात्सर्य दूसरी तरफ है। जो दूसरोंके सुखमें दुःखी होते हैं, वे जीवों पर दया नहीं कर सकते। भगवानके प्रति भी उनकी दृष्टि नहीं जाती। वैष्णवोंके प्रति उसकी स्वाभाविक अज्ञानता जनित घृणा या हेषका भाव रहता है।

मत्सरतासे रहित व्यक्ति ही तृणादपि श्लोकका तात्पर्य ग्रहणमें समर्थ होते हैं

तृणादपि सुनीचेन सरोरपि सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनोयः सदा हरिः ॥

(शिष्ठाष्टक-३)

मात्सर्य रहित व्यक्तिके अन्दर धनमद, रूपमद, जातिमद, विद्यामद और जड़ीय चल-मद—इनमें से एक का भी अहंकार नहीं होता, अतएव वे अपनेको तिनकेसे भी तुच्छ मानते हैं। इनमें क्रोध, जल्दी-बाजी और पर-हिंसा नहीं होती। यही कारण है कि वे वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु अर्थात् परम दयालु होते हैं। जाति-विद्या आदि मदोंसे रहित निर्मत्सर पुरुष सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी प्रतिष्ठाकी आशासे शून्य होते हैं, अतएव वे अमानी कहलाते हैं। निर्मत्सर पुरुष दूसरोंके सुखमें सुखी और दूसरोंके दुखमें दुखी होते हैं, इसलिये सब जीवोंको वे यथोचित सम्मान देते हैं। साधारणतः दयाके द्वारा सब जीवोंका सम्मान करते हैं। ब्राह्मण और वैष्णव-प्राय सभ्य जीवोंकी सम्मान पूर्वक अभ्यर्थना करते हैं तथा शुद्ध वैष्णवज्ञोंके चरणोंकी पूजा आदि द्वारा उनको सेवा करते हैं।

निर्मत्सर पुरुषके १० लक्षण

१. निर्मत्सर पुरुष स्वाभाविक रूपसे ही सन्तोंकी निन्दा नहीं करते।

२. कृष्णमें उनकी अनन्य उपास्य निष्ठा होती है वे कृष्णको ही सर्वेश्वरेश्वर मानते हैं, दूसरे २ देवताओंको कृष्णके दास दासी मानते हैं, उन्हें स्वतन्त्र देवता नहीं मानते, परन्तु ऐसी मान्यता रखने पर भी वे उन देवताओंकी कभी अवज्ञा नहीं करते।

३. गुरुज्ञोंके प्रति यथोचित अद्वाका भाव रखते हैं।

४. श्रुति आदि भक्ति-शास्त्रोंका सम्मान करते हैं।

५. व्यर्थके तर्कोंसे दूर रह कर नाम और नामीके प्रकृत्वमें विश्वास रखते हैं और एक मात्र श्रीनामको ही परमार्थ-तत्त्व स्वीकार करते हैं।

६. नामके बल पर पापकी प्रवृत्तिको दूर रखते हैं।

७. धर्म, व्रत, त्याग आदि शुभ कर्मोंको नामके समान शुभ नहीं समझते। अर्थात् दोनोंको एक ही श्रेणीमें नहीं मानते।

८. अद्वालु व्यक्तिके हृदयमें अद्वा उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु जब तक उनमें अद्वा उत्पन्न नहीं हो जाती, उनको नामका उपदेश नहीं करते।

९. श्रीनामका माहात्म्य जो शास्त्रोंमें लिखा है, उस पर सम्पूर्ण रूपमें विश्वास करते हैं।

१०. जड़ शरीरमें “मैं और मेरा” रूप अहंकार का त्याग करते हैं।

अद्वालु पाठको ! निर्मत्सरताही जीवकी मुक्ति है और मत्सरता ही जीववा वन्धन है। ऐसा जानकर मत्सरताको दूरकर सब प्रकार से निर्मत्सर होनेकी चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा हुए बिना हरि भजन संभव नहीं है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

उपनिषद् की वारणी

ऐतरेयोपनिषद्

जह और चेतनमय प्रत्यक्ष जगत् के इस स्वर्में प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही थे । उस समय भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति नहीं थी । उस समय उन परमात्माके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला प्राणी न था । उन परम पुरुष परमात्माने सृष्टिके प्रारम्भमें यह विचार किया कि 'मैं प्राणियोंके कर्म-फल भोगके लिये भिन्न-भिन्न लोकों की रचना करूँ ।'

ऐसा सोचकर उन्होंने अंभ, मरीचि, मर और जल—इन लोकोंकी रचना की । अतिमें स्वर्गलोकसे ऊपरके महः, जनः, तपः और सत्य एवं इन चारोंके आधाररूप द्युलोक—इन पाँचों लोकोंको अम्भलोक कहा गया है । उसके नीचेका अन्तरिक्षलोक—जिसमें सूर्य चन्द्र और तारागण हैं—ये स्व किरणोंवाले लोक विशेष हैं अर्थात् भुवः लोक ही मरीच लोक है । उसके नीचेके पृथ्वीलोक या मृत्यु लोकको मर लोक कहा गया है । मरलोकके नीचे जो पाताल लोक हैं, वे आपः के नामसे प्रसिद्ध हैं । इन लोकों की रचना कर उन्होंने फिर विचार किया कि—'ये लोक तो रचे गये; अब इन लोकोंकी रक्षाके लिये लोकपालकोंकी रचना करना भी आवश्यक है, अन्यथा ये सबलोक सुरक्षित नहीं रह सकते हैं ।' ऐसा सोचकर उन्होंने जलमेंसे एक हिरण्यमय पुरुषको निकालकर उसको समस्त अङ्ग-उपाङ्गोंसे युक्त करके मूर्चिमान बनाया ।

तत्पश्चात् परमात्माने हिरण्यगर्भ पुरुषको उत्पन्न कर उसके अङ्ग-उपाङ्गोंको व्यक्त करनेकी इच्छा की, जिससे उस पुरुषके शरीरमें सबसे पहले अरणेकी माँति फटकर मुख-छिद्र निकला । मुखसे बाक् इन्द्रिय

उत्पन्न हुईं और उसमें उसका अधिष्ठित देवता अग्नि उत्पन्न हुआ । फिर नासिकाके दोनों छिद्र, प्राणवायु और उसके अधिष्ठात् देवता वायु उत्पन्न हुए । नासिका ही ग्राण-इन्द्रिय है; अतः ग्राण-इन्द्रिय और उसके अधिष्ठात् देवता अश्विनीकुमार भी नासिका से ही उत्पन्न हुए हैं । फिर आँखोंके दोनों छिद्र और उसके अधिदेवता सूर्य उत्पन्न हुए । फिर कानोंके दो छिद्र और उसके अधिदेवता दिशाएँ, त्वचा, रोम, औपधियाँ और बनस्पतियाँ, हृदय, मन मनके अधिदेवता चन्द्र, नाभि, फिर नाभिसे अपान वायु और उसके अधिदेवता मृत्यु उत्पन्न हुए । फिर लिङ्ग, लिङ्गमें वीर्य और जलकी उत्पत्ति हुई । लिङ्गका दूसरा नाम उम्मि इन्द्रिय है । उसके अधिदेवता प्रजापति हैं, फिर इन देवताओंको भूख और प्यास-से युक्त कर दिया । अतः भूख और प्याससे पीड़ित वे अग्नि आदि देवता परमात्माले बोले—'भगवन्! हमारे लिये एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, जिसमें रहकर हमलोग अन्न भज्ञण कर सके—अपना-अपना आहार संप्रह कर सकें ।

इस प्रसार उनकी प्रार्थना सुनकर संष्टिकर्त्ता परमात्माने एक गौका शरीर प्रकट किया और उनको दिखलाया । उसे देखकर देवताओंने कहा—'भगवन्! यह शरीर हमारे लिये पर्याप्त नहीं है । इससे ब्रेत्र किसी दूसरे शरीरकी रचना कीजिये । तब परमात्मा ने एक घोड़ेका शरीर बनाकर उनको दिखलाया । उसे देखकर वे फिर बोले—'यह शरीर भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं है । इससे भी हमारा काम नहीं चल सकता । आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये ।' अबकी बार परमात्माने मनुष्यका

शरीर बनाकर उनको दिखाया । उसे देखकर देवता घड़े प्रसन्न हुए और बोले—‘यह हमारे लिये बहुत ही सुन्दर निवास स्थान बन गया । हम आरामके साथ इसमें रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभाँति पूर्ण हो सकेंगी ।’ देवताओं द्वारा उन शरीरको पसंद किये जाने पर परमात्माने उनसे कहा—‘तुम लोग अपना-अपना योग्य स्थान देखकर इस शरीरमें प्रवेश कर जाओ ।’

मृष्टिकर्त्ता परमात्माकी आज्ञा पाकर अनिन देवता वाक्-हन्दित्र्यका रूप धारणकर मनुष्य शरीरके मुखमें प्रविष्ट हो गये । वरुणदेव भी रसना-हन्दित्र्य बनकर मुखमें प्रवेश कर गये । वायुदेवता प्राण होकर नासिकाके छिद्रोंमें प्रविष्ट हुए । अश्विनी-कुमार द्वाण-हन्दित्र्यका रूप धारण कर नासिकामें प्रविष्ट हो गये । सूर्यदेवता नेत्र-हन्दित्र्य बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हुए । दिशाभिमानी देवता श्रीत्रेन्दित्र्य बनकर दोनों कानोंमें प्रविष्ट हो गये । औषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता रोम बनकर चमडेमें प्रविष्ट हो गये तथा चन्द्रमा मनका रूप धारणकरके हृदयमें प्रविष्ट हो गये । मृत्युदेवता अपान (और पायु-हन्दित्र्य) का रूप धारण करके नाभिमें तथा जलके अधिष्ठात् देवता बीर्य बनकर लिंगमें प्रविष्ट हो गये । इस प्रकार सबके सब देवता हन्दियोंके रूपमें अपने-अपने उपयुक्त स्थानोंमें प्रविष्ट होकर स्थित हो हो गये । तब भूख और प्यास—दोनोंने परमात्मासे अपना-अपना स्थान ठीक कर देनेके लिये प्रार्थना की । उनकी प्रार्थना सुनकर परमात्माने कहा—‘तुम दोनोंको पृथक् स्थानकी आवश्यकता नहीं है । तुम दोनोंको इन देवताओंके ही स्थानोंमें भाग दिये देता हूँ ।’ इसीलिये हन्दियोंद्वारा महण किये गये विषयोंसे अर्थात् आहारोंसे भूख और प्यासको भी शान्ति मिलती है ।

इन सबकी रचना हो जाने पर परम पुरुषने उन लोकों और लोकपालोंके निर्वाहके लिये अन्न आदि-की रचना करना भी आवश्यक समझा । क्योंकि इन

देवताओंके साथ भूख-प्यास भी लगा दी गयी है । तत्पश्चात् परमात्माके संकल्पसे अन्न उत्पन्न हुआ । परन्तु वह अन्न यों समझकर कि ये लोग मुझे खानेवाले हैं अर्थात् मेरे विनाशक हैं, उनसे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा । तब उस मनुष्यने (लोक पालोंके निवास-स्थान रूपी पुरुषने) उस अन्नको वाणी द्वारा पकड़ना चाहा, परन्तु पकड़ नहीं सका । यदि उस पुरुषने वाणी द्वारा अन्नको पकड़ लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणी द्वारा उच्चारण करके ही तुम हो जाते—अन्नका नाम लेने मात्रसे उनका पेट भर जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता ।

तब उस पुरुषने उस अन्नको क्रमशः द्वाण-हन्दित्र्य, श्रोत्र (कान), त्वचा, मन और उपस्थ (लिंग) द्वारा पकड़ना चाहा, परन्तु उसे पकड़नेमें समर्थ नहीं हुआ । अन्तमें उसने उस अन्नको मुखके द्वारसे अपान वायु द्वारा प्रहण करनेकी चेष्टा की, तब वह अन्नको अपने शरीरके भीतर ले जा सका । यह अपान-वायु प्राण-वायुका ही अंश है जो श्वास-प्रश्वासके रूपमें शरीर-के भीतर प्रवेश करती है तथा यही अन्नके द्वारा मनुष्यके जीवनकी रक्षा करनेवाला होनेसे साज्जात् आयु है ।

तदनन्तर परमात्माने फिर विचार किया कि—‘यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे विना कैसे रहेगा? मेरे सहयोगके बिना यह अकेला कोई भी कार्य कैसे कर सकेगा? अर्थात् मेरे सहयोगके बिना इन सब हन्दियों द्वारा कार्यसम्पन्न कर लेना इसके लिये असंभव है।’ यह सोचकर परमात्माने विचार किया कि मैं इस मनुष्य शरीरमें पैर या मस्तक-इन दोमेंसे किस मार्गसे प्रविष्ट होऊँ । तब कुछ सोचकर वे मनुष्यके ब्रह्मारन्द्रको चीरकर उसके शरीरमें प्रविष्ट हो गये । इसीलिए वह द्वार विदीर्ण होनेके कारण ‘विदृति’ नामसे प्रसिद्ध है । वह द्वार आनन्द स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है । परमेश्वरकी उपलब्धिके तीन स्थान और तीन स्वप्न हैं । तीन स्थान ये हैं—(१) हृदयआकाश, (२) विशुद्ध आकाश-

उनका परमधारम (जो गोलोक ब्रह्मलोक आदिसे प्रसिद्ध है), और (३) ब्रह्मालय और इस जगतकी स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन अवस्थाएँ ही वे तीन स्वप्न हैं।

मनुष्यरूपमें प्रकट हुए उस मनुष्यने इस भौतिक जगतकी विचित्र रचनाको बड़े आश्चर्यसे देखा और मन-ही-मन इस प्रकार सोचा—‘इस विचित्र जगत्की रचना करनेवाला कौन है?’ इस प्रकार करने पर वह अपने हृदयमें अन्तर्यामी पूरुषको साक्षात्कार कर परम आनन्दित हुआ। तात्पर्य यह कि मनुष्य जन्म प्राप्तकर परमात्माको जाननेकी उत्सुकता होने पर जीव आप्रहके साथ यदि उन्हीं पर निर्भर रहकर उनका चिन्तन करें तो वह भगवानको जान सकता है। परमात्माको जानने और पानेका काम इस मनुष्य शरीरमें ही हो सकता है, दूसरे शरीरमें नहीं। अतः जीवनके अमूल्य समयका सदुपयोग करना चाहिए, उसे व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए।

उस मनुष्य शरीरमें उत्पन्न हुए पुरुष द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष कर लिये जानेके कारण परमब्रह्म परमात्माका नाम ‘इदन्द्रा’ प्रसिद्ध है। अर्थात् इदम् + द्रः=इसको मैंने देख लिया’ व्युत्पत्तिके अनुसार उनका इदन्द्र नाम है। कुछ लोग उनको परोक्षभाव से ‘इन्द्र’ कहा करते हैं। देवतालोग भी परोक्ष प्रिय हैं अर्थात् देवतालोग मानो छिपकर ही कुछ करना पसन्द करते हैं।

इस संसारमें पहले-पहले पुरुष शरीरसे वीर्य उत्पन्न होता है। वही वीर्य सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ बाहर निकल कर तेजरूपसे शरीरकी रक्षा करता है। वही वीर्य पुरुष द्वारा खींके गर्भाशयमें सिंचित होने पर गर्भके रूपमें उत्पन्न होता है। माताके शरीरमें प्रवेश करना ही जीवका पहला जन्म है। पिताके द्वारा स्थापित किया हुआ वह तेज उस खींके आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है—अर्थात् वह गर्भ उस खींके एक अङ्ग जैसा हो जाता है। इसीलिये वह गर्भ उस खींके उदरमें रहता हुआ भी गर्भिणी खींको

पीड़ा नहीं पहुँचाता अथवा भारस्वरूप नहीं प्रतीत होता। वह खींके अपने शरीरमें आये हुए अपने पति के आत्मरूप उस गर्भको अपने अङ्गोंकी माँति रक्षा करती है, भोजन आदि द्वारा पुष्ट करती है। वह खींके भी उस समय अपने पति और घरके लोगोंके द्वारा विशेष रूपसे रक्षित और पालित होती है। गर्भ प्रसव होने पर पिता उस पैदा हुए संतानको जात कर्म आदि मंस्कारोंसे अभ्युदयशील बनाता है। इस प्रकार एक जीवसे दूसरे जीवोंका विस्तार होता है। यही जीवका दूसरा जन्म है। जब पिताका आत्मस्वरूप पुत्र कार्य करने योग्य हो जाता है, तब पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना लेता है अर्थात् अग्निहोत्र, देवपूजा और अतिथिसेवा आदि वैदिक और लौकिक समस्त शुभ कर्मोंका भार पुत्रको सौंप देता है। गृहस्थीका पूरा दायित्व पुत्र पर छोड़ कर पिता अपनेको पितृऋणसे मुक्त समझता है। उसके बाद आयु समाप्त होने पर शरीरको छोड़ कर अपने कर्मोंके अनुसार दूसरी योनिमें (शरीरमें) प्रवेश करता है। यही उसका तीसरा जन्म है। इसी प्रकार कर्मानुसार जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है। जन्म-जन्मान्तरके महान कष्टसे छुटकारा पानेके लिये जो चेष्टा होती है, वह केवल मनुष्य शरीरमें ही हो सकती है, दूसरे शरीरमें नहीं। अतः मनुष्य शरीर पाकर जन्म-मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये अवश्य चेष्टा करनी चाहिए।

महपि वामदेवको मातृगर्भमें ही आत्मानुभूति हुई थी। वे उस समय जान गये थे कि इन इन्द्रियों और अन्तःकरणसे युक्त देहका ही जन्म होता है; आत्माका नहीं। इस ज्ञानकी प्राप्तिसे पहले सैकड़ों जन्मोंतक स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंने अपने लौह आवरणोंसे आत्माको बड़ी मजबूतीसे बाँध रखा था—वे यह भी उपलब्धि कर सके थे। जन्म-मृत्युके कठिन बन्धनसे छुटकारा पाना बड़ा ही कठिन है। परन्तु ज्ञानके बलसे वे इन इन्द्रियोंसे उसी प्रकार बड़े वेगसे मुक्त हुए थे, जिस प्रकार बड़े वेगसे बाज

पक्षी उडता है और जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छुट-
कारा प्राप्त होकर असृतत्वको प्राप्त हो गये थे।

इस उपनिषद्‌में दो आत्माओंका वर्णन आया है। एक परमात्माका और दूसरे जीवात्माका। इन दोनोंमें उपास्य कौन है? उसका स्वरूप क्या है? उसको कैसे जाना जाता है? इन प्रश्नोंके पैदा होने पर मतुर्ध्य इस विवार पर उपनीत होता है कि—
देवना, सुनना, अतुभव करना, धैर्यधारण करना,
निश्चय करना, मनन करना, स्मरण करना, संकल्प
करना, वासना करना तथा संभोग करना आदि की
अभिज्ञाना जिससे उत्पन्न होती है, उन सबकी जड़में
एक पुरुष है, जिसके द्वारा सब कुछ होता है। तब
वह स्थिर करता है कि सबको उत्पन्न करके सब
प्रकारकी शक्तियाँ प्रदान करना, इच्छा करना, आदि
कार्य एकमात्र परमात्मा ही करते हैं। अतएव वही

सबके उपास्य देवता हैं। वही ब्रह्मा हैं, वही पूर्व-
कथिक इन्द्र हैं, वही सबके रचियता, पालयिता और
सम्पूर्ण जगतके स्वामी प्रजापति हैं। इन्द्रादि देवता
पञ्चभूत, जरायुज, अरण्डज, स्वेदज, उद्धिज, स्थावर
और जंगम प्राणी—सभी परमात्मासे शक्ति पाकर
अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। इनमें
जो कुछ ज्ञान है, परमात्मासे ही प्राप्त है। उक्त
प्रज्ञान स्वरूप परमात्मामें ही सभी स्थित हैं। अतएव
प्रज्ञान ही ब्रह्म हैं। वे ही उपास्य हैं। जो इन प्रज्ञान
स्वरूप ब्रह्मको जान लेते हैं, वे इस जगतको छोड़
कर उसी ब्रह्मके साथ अलौकिक भोगोंको प्राप्तकर
अमर हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मृत्युसे मुक्त
हो जाते हैं।

—त्रिदिवस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रीती महाराज

—४५२२४०—

चेतावनी

नर तैं जनम पाह कहा कीनौ ?

बदर भर्यौ कृकर-सूकर लौं, प्रमु कौ नाम न लीनौ ॥

श्रीभागवत सुनि नहिं स्ववननि, गुरु गोविन्द नहिं चीनौ ।

माव-भक्ति कल्पु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनौ ॥

भूठौ सुख अपनौ अरि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनौ ।

अघ कौ मेरु बढ़ाइ अधम तू, अन्त भयौ बल हीनौ ॥

लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि वाही मन दीनौ ।

सूरदास भगवंत-भजन विनु ज्यौ अंजलि-जल छीनौ ॥

श्रीचैतन्यदेव और हरिनाम

[गठाङ्कसे आगे]

कलियुगमें तामसिक मत या आमत संम्प्रदाय उत्पन्न होंगे—यह जानकर ही कलियुगी जीवोंकी रक्षाके लिये त्रिकालदर्शी श्रीव्यासदेवने सत्-संम्प्रदायोंके नाम पद्मपुराणमें लिख दिये हैं। जैसे:—

संम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रारस्ते विफला मताः ।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः संम्प्रदायिनः ॥
श्री-ब्रह्म-रुद्र सनका वैष्णवः विति पावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या शुद्धक्ले पुरुषोत्तमात् ॥

अर्थात् वे सब मन्त्र और मत जो सत् संम्प्रदाय-के अनुगत नहीं हैं, उनके द्वारा कभी भी सफलता नहीं मिल सकती, उनके द्वारा जीवका एकमात्र प्रयोजन भगवत्-सेवाकी प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती। आजकल कितने ही भूईँ-कोड़ भगवान् (?) भारतकी उर्बरा भूमिमें निरन्तर उग रहे हैं तथा श्रुति-स्मृति विरोधी मनोकल्पित पद्म एवं मंत्रादिका प्रचारकर जगतका अहित कर रहे हैं। कितने ही अशुद्ध अद्भुत मत-मतान्तरोंका धर्मके नाम पर प्रचारकर रहे हैं। त्रिकालदर्शी श्रीव्यासदेवने कलियुगकी भावी दशाको भलीप्रकार समझ कर ही श्री, ब्रह्म, रुद्र व सनक इन चार जगत पवित्रकारी संम्प्रदायोंका उल्लेख कर रखा है। साक्षात् भगवान् होकर भी श्रीमन्महाप्रभुने शास्त्र-की मर्यादा रखी है तथा इन चार संम्प्रदायको माना है। ये चारों संम्प्रदाय वैष्णव संम्प्रदाय हैं। इन सबका मत है—श्रीविष्णु ही परात्पर तत्त्व है, उनकी सेवा ही जीवका नित्य धर्म है। इन चारों सत् संम्प्रदायोंके वैष्णवजन निर्विशेष मार्गके इस विचारको कि प्रत्येक मतही एक पथ है—और स्मार्त-समाजकी पंचोपासनाकी विष्णुभक्ति शुद्ध भक्ति है—नहीं मानते हैं।

श्रीमन्महाप्रभुने निर्विशेषवादी और वैचोपासकोंके विचारोंका खण्डन कर शुद्ध भक्ति और शुद्ध नामका ही प्रचार किया है। उन्होंने धर्मवज्ञा, जगतवंचक और उच्छृंखल समाजकी मनःतुष्टि करके अप-स्वार्थकी सिद्धिके लिये कहीं भी शास्त्र-मर्यादाका उलंघन नहीं किया है। वरन् उन्होंने समस्त दार्शनिक जगतको दिव्यलाया है कि—निर्विशेषवादही नाम भजनमें सर्वप्रधान वाधा है और यह निर्विशेषवाद शास्त्रानुकूल नहीं है। असुर स्वभाववाले व्यक्तियोंको मोहित करनेके लिये असत् शास्त्रके रूपमें आचार्य शङ्कर द्वारा निर्विशेषवादका प्रचार हुआ है—

स्वागमैः कलिपत्रै स्त्वंच जनान् मद्दिसुखान् कुरु ।
मात्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा ॥
मायावादं अन्त शास्त्रं प्रचड्जं बौद्धसुच्यते ।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मण मूर्तिना ॥

(पद्मपुराण)

अतएव निर्विशेषवादको अचलमें बाँधकर जो हरिनामकी साधना (?) करते हैं, उनके हरिनाममें और श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रचारित हरिनाममें रात और दिनका अन्तर समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतने ‘पतावानेव’ श्लोकमें नाम प्रहणको ही भक्तियोग कहा है। परन्तु निर्विशेषवादियोंका नाम कदापि भक्तियोग नहीं है। कारण, निर्विशेषवादमें त्रिपुटी अर्थात् सेव्य, सेवक और सेवाको नित्य नहीं माना गया है। इसलिये निर्विशेष या कैवल्य मुक्तिकी कामनासे ऊँकार तत्त्वकी ओर जिनका चित्य आकृष्ट है, वे श्रीनामको केवल साधनके रूपमें प्रहण करते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी भक्त नहीं हो सकते;

केवल मात्र भक्तिदेवीके चरणोंमें आपराध ही संप्रह करते हैं। उनके ऐसे नामको शास्त्रमें नामापराध कहा गया है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु इस प्रकारके नामापराधके प्रचारक नहीं थे। उन्होंने बतलाया हैः—

भुक्ति मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृद वत्ति ते ।
तावद्भक्ति सुखस्थाव्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

ऐसी भुक्ति और मुक्तिकी कामनाको उन्होंने पिशाची बतलाया। इसलिये पिशाची द्वारा मोहित जीवोंकी शुद्धनाममें रुचि नहीं होती है।

श्रीमन्महाप्रभुका नाम-प्रचार शुद्धभक्ति है; वह कर्म या ज्ञानका अङ्ग नहीं है। जो निविशेषवादी हैं या 'सब समान' मतके पोषणकारी हैं उनके मुख से निकला हुआ हरिनाम कभी भी भक्तियोग नहीं है, वह कर्म या ज्ञानके अन्तर्गत नामापराध है। कर्मी, ज्ञानी, योगी सब अपने-अपने साधनोंको दुःखप्रद समझकर और उन-उन साधनों द्वारा पूर्णफल प्राप्त नहीं हो सकता—यह भलिप्रकार जानकर श्रीनामप्रभुका आश्रय लेते हैं। ये लोग साधनके समय श्रीनामकी शरण लेते हैं और नामसे सहज ही सिद्धि प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। श्रीनामप्रभु कृपापूर्वक अपना कलङ्क स्वीकार करके भी उन कर्मी, ज्ञानी और योगियोंकी अभिलाप्यापूर्ण करते हैं। परन्तु श्रीनामका मुख्य और यथार्थ फल जो प्रेम भक्ति है, उसे कभी भी प्रदान नहीं करते।

नाम, नामाभास व नामापराध एक नहीं है। कर्मियोंकी भुक्ति अर्थात् लोक और परलोक (स्वर्गादि) के भोग-सुख नामापराधके द्वारा सहज ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये कर्मीगण नामप्रहणका बड़ा आदर करते हैं। वे मातापिताके आद्व व यज्ञकर्मके दोषोंको दूर करनेके लिये और सफलता प्राप्त करनेके लिये साधन-अङ्गके रूपमें नाम संकीर्तन करते हैं। नामकी कृपासे पितृगण (पूर्वज) स्वर्गादि प्राप्तकर सकेंगे—ऐसा समझकर आद्वादिके समय नाम कीर्तन करना नामभजन या नामसेवा नहीं है—यह तो

श्रीनाम प्रभुके द्वारा अपनी सेवा करवा लेनेकी चेष्टा मात्र है। शुद्ध भक्त ऐसे नाम संकीर्तनको देखकर अत्यन्त दुःखी होते हैं। जो नाम सेव्य तत्व हैं, उन्हें लोगोंको अपने भोगमें लगाते देख कर उनका हृदय बहुत ही व्यथित होता है। ऐसे नाम संकीर्तन की गणना नामापराधमें की गई है। इसीलिये शुद्ध नाम प्रहण करनेवाले भक्तजन ऐसे नाम संकोर्तनसे दूर रहते हैं। कर्मियोंके समान ज्ञानी व योगीजन कठोर साधन करके जब अपने उद्देश्यकी प्राप्तिमें असमर्थ हो जाते हैं तब नाम-संकीर्तनका सहारा लेते हैं। निविशेष मार्ग क्लेशपूर्ण है, इस विषयमें श्रीगीता १२४ का विचार स्पष्ट है—

वजेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिदुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अर्थात्-जिनका चित्त अव्यक्त-स्वरूपमें लगा हुआ है उनको अधिकतर क्लेश ही प्राप्त होता है, उनको कठिनाईयोंका सामना अधिक करना पड़ता है, क्योंकि देहधारियोंके लिये अव्यक्तकी प्राप्ति, अव्यक्त उपासनाकी सिद्धि वही कठिन होती है, यह काम सुगम नहीं है। अतएव केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्त करना कष्ट साध्य जानकर ज्ञानी और योगी नाम संकीर्तनका सहारा लेते हैं। लेफिन उनका उद्देश्य नामकी सेवा नहीं—नामप्रभुसे निविशेष या अव्यक्त ब्रह्मकी प्राप्ति है। इसलिये शुद्ध भक्त इसकी भी नामापराध में गणना करते हैं, और ऐसे नाम संकीर्तन करनेवालोंसे सर्वदा दूर रहते हैं। भक्तगण ज्ञानी व योगियोंके अभिलिप्ति निविशेष सुक्त या कैवल्यको अत्यन्त धृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। इस कारण, त्रिदिविषयक श्रीलक्ष्मीधानन्द सरस्वती लिखते हैं—

कैवल्यं नरकाष्टे त्रिदशपुराकाश पुण्यायते ।
दुहर्वन्तेन्द्रियकालसर्पपटखी प्रोत्खात द्रष्टायते ।
यत् कारुण्यकटाङ्गवैभवतां तं गौरमेव स्तुमः ॥
अर्थात्-भक्तजन योगियों और ज्ञानियोंके

आदरणीय कैवल्य मुक्तिको नरकके समान भयङ्कर और धृणास्पद मानते हैं। जिन्होंने श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा कटाक्ष प्राप्त कर लिया है, तथा जिन्होंने शुद्ध भक्तका रस किंचित् परिणाममें आस्वादन कर लिया है, वे प्रेमसुखके सामने कैवल्य मुक्तिको नरक जैसा धृणित जानते हैं। उन्हें कर्म कारण द्वारा लभ्य इन्द्र पदवी या ब्रह्मपदवी अति तुच्छ जान पड़ती है। वे स्वर्ग सुखको भी आकाश कुमुम जैसा असत् समझते हैं। इसलिये भक्तजन भुक्ति-मुक्तिकी अभिलाषा रखनेवालोंके नाम संकीर्तनको नामापराध मानते हैं।

शुद्ध ज्ञानी या भक्तकी जड़ मुक्ति तो श्रीनामके आभासमें ही हो जाती है। ऐसी मुक्ति कैवल्य मुक्ति से सर्वथा विलक्षण होती है। भक्तजन विना परिश्रम के ही सहज ही नामाभासमें इसे पा लेते हैं। अजामिल इसी प्रकार नामाभास द्वारा मुक्त हो गए थे। यह नामाभास जीवके नामापराध रहते सम्भव नहीं है। नामापराधरहित शुद्धभक्त स्वाभाविक रूप से ही इसे प्राप्त कर लेते हैं—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्—
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोर मूर्तिः ।
मुक्तिः स्वयं मुकुक्षितांजलि सेवतेऽस्मान् ।
धर्मर्थकामगतयः समयपतीचाः ॥
(कृष्णकर्णामृत)

अर्थात् दिव्य किशोर मूर्ति श्रीभगवानके चरणों में जब अनन्य भक्ति उदय होती है, तब मुक्ति हाथ जोड़कर शुद्ध भक्तकी सेवाके लिये खड़ी रहती है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये द्वारपालकी तरह

भक्तकी आज्ञाकी प्रतिज्ञामें दूर खड़े रहते हैं। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित हरिनाम इस प्रकार शुद्ध भक्ति है; यह कर्मी, ज्ञानी या योगियोंका नामापराध नहीं। यह उन कर्मी, ज्ञानी या योगियोंके अधिकारसे बाहर है। किसी प्रकारका अन्याभिलाष रहनेसे हरिनामका कीर्तन नहीं हो सकता। मायावादी कृष्णके प्रति अपराधी हैं, वे भगवानके नित्य सच्चिदानन्द रूपादिको स्वीकार नहीं करते। इसी लिये वे प्रेम दाता हरिनामके कीर्तनमें अयोग्य होते हैं और प्रेमधनसे सदा वंचित रहते हैं। यंचोपासक स्मार्तंगण जितना भी हरिनाम क्यों न करें वे “विष्णौ सर्वेश्वरेश्वरे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः”॥ वचनानुसार सर्वेश्वरेश्वर श्रीविष्णुको उनकी विभूति स्वरूप देवताओंके सहित एक समान समझनेके कारण अपराधी हैं, वे कभी भी कृष्ण प्रेम नहीं पा सकते।

अधिकांश लोग इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। उनकी श्रीनामके प्रति स्वाभाविक श्रद्धाका सुयोग लेकर कुछ निर्विशेषवादी और स्मार्त ध्यक्ति अपनेअपने अपस्वार्थको सिद्ध कर रहे हैं तथा सरल धर्मविश्वासी मानवको प्रेमधनसे वंचित कर रहे हैं; यहाँ तक कि, श्रीमन्महाप्रभुसे भी अधिक परिमाण में हम नाम प्रचार कर रहे हैं, ऐसा कहनेमें उन्हें लज्जा नहीं आती। अतएव साधु सावधान ! ऐसे नामापराधको श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित शुद्ध हरिनाम मानकर धोखेमें न रहें। बल्कि शुद्ध हरिनामका अनुशीलन कर मानव जीवनको सफल करें।

—त्रिदिविड भिजु श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम

वैष्णव-सेवा

जो लोग नित्यकाल भगवानकी सेवा करते हैं, वे ही वैष्णव या साधु हैं और जो भगवत् कथाके अतिरिक्त अन्य कथा, अन्य चिन्ता या खाना-पीना रहना लेकर ही व्यस्त हैं, वे अवैष्णव हैं। वैष्णव वाङ्मा-कल्पतरु हैं। वे हमारी सब प्रकारकी मनो-कामनाएँ पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। उनके संगसे सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वे निष्कञ्चन होते हैं। उन लोगोंका संग वा उनकी सेवा ही हम लोगोंका एक मात्र कर्त्तव्य है। वैष्णवोंके साथ बात-चीत करनेसे या उनके समीप बैठे रहनेसे ही सत्संग या संत-सेवा नहीं होती। संग शब्दका अर्थ प्रीति वा आसक्ति है। जान बूझकर या बिना जाने वूमें साधु-को प्रणाम, उनकी सेवा, उनके चरणामृत अथवा उच्चिष्ठकी सेवा वा उनकी सेवामें कुछ अर्थादि प्रदान करनेसे भी हम लोगोंका साधुसंग होता है। उन सब कायोंसे साधुका सम्मान करना होता है, एवं उनसे किसी २ प्रकारका लाभ तो होता है, किन्तु साधुकी बाणीकी अवज्ञा करके साधुके शरीरके प्रति आकृष्ट होनेसे उनके यथार्थ परिचयके अभावके कारण साधुसे प्रीति होनेके बदले साधुके चरणोंमें अपराध ही संप्रह होता है। साधु-सेवाका फल—साधुकी प्रीति है। ऐसा न होनेसे कुछ अपराध हुआ—ऐसा समझना होगा। अनएव साधुसे वास्तव सत्यकी बातें ध्यान पूर्वक सुनकर पालन करना होगा, साधुका स्वभाव व उनकी सच्चरित्रता बहुत यत्नके साथ छानबीन कर निष्कपट होकर उनका अनुसरण करनेसे हम लोगोंका मङ्गल होगा—हम लोग कृष्ण भक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

भक्ति आत्माका नित्य धर्म है। भगवान या भगवद्गुरुकी कृपाके बिना भक्ति नहीं पायी जाती। वैष्णवकी सेवा या कृपाके बिना भगवत्-कृपा वा

भगवत्-सेवा प्राप्त नहीं होती। विष्णु-सेवासे वैष्णव-सेवाका माहात्म्य अधिक है। वैष्णव-सेवासे ही विष्णु-सेवा पायी जाती है। वैष्णवोंकी सेवा वा आनुगत्यके अतिरिक्त जीवके मंगलका और कोई उपाय नहीं है। उन लोगोंको छोड़कर कृष्ण-सेवा प्राप्त करनेका बहाना बेकार है। श्रील प्रभुपाद कहते हैं “यदि स्वयं नारायण भी अपने आपको देदें, तब भी उनके देनेमें कुछ बाकी रह जाता है, किन्तु भगवद्गुरुका सम्पूर्ण रूपसे भगवान्को दे सकते हैं, उससे भगवानकी कोई हानि नहीं होती।”

भगवानकी कृपा पानेके लिये वैष्णव-संग या वैष्णव-सेवाके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। बाह्यदर्शनमें भगवानकी सेवा छोड़कर भी भगवद्गुरुकी सेवाके लिये व्यस्त होना उचित है। वैष्णव-सेवा इतनी बड़ी वस्तु है। किन्तु साधु-सङ्ग वा साधु-सेवा करनेके पहले सच्चे साधु कौन है—विचार करना आवश्यक है। नहीं तो, जिसे-तिसे साधु समझकर सेवा करनेकी चेष्टा करनेसे अमङ्गलकी ही सम्भावना अधिक होती है। ऐसे साधुको पहचानना बहुत ही कठिन है। बड़ा सौभाग्य नहीं होनेसे—साधुसंगकी निष्कपट बासना हृदयमें नहीं जागनेसे सच्चा साधु-संग प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। सौभाग्यवश साधुसंग लाभ होनेसे विषयी कृष्ण-बान्धवोंके प्रति हृदयकी आसक्तिको छोड़कर वैष्णवोंको ही बन्धु समझते हुए उनके समीप कृष्ण-कथा श्रवण करना उचित है। उनके साथ अन्य व्यवहार करनेसे उनका संग, उनकी सेवा या कृपा प्राप्त नहीं होती। प्रीतिके साथ उनके समीप हरिकथाकी चर्चा करनी ही उनका सङ्ग करना है एवं उसीसे हमलोगोंका मङ्गल होगा। सन्तोंकी बाणी हमें कृष्णोन्मुख करायेगी एवं दूसरोंकी बाणी हमें विषय-मुखी करायेगी। हृदय अधिक

मलीन रहनेसे भी साधुके समीप निरन्तर हरिकथा सुनकर हमलोग क्रमशः कृष्णोन्मुख हो सकते हैं। वही कृष्णोन्मुख करानेवाली वीर्यवती हरिकथा हम लोगोंको विषय-वासनाको क्रमशः नष्ट कर सकती है।

साधुके समीप रहकर भी हम लोग साधुको पहचान नहीं सकते। इसीलिये कल्याण नहीं होता, भक्ति तो दूरकी वात है, अनर्थ भी नहीं कटता। वैष्णव किस प्रकार पहचाने जायें—इस विषयमें श्रीमद् गौरकिशोरदास बाबाजी कहते हैं—“वैष्णव-जन जिस समय करुणावश आत्मप्रकाश करते हैं, उसी समय अद्वालु व्यक्ति वैष्णवकी कृपासे आकृष्ट होकर शरणागतिके अभावसे वैष्णवके सच्चे स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं। अत्यन्त भाग्यवान् व्यक्ति ही वैष्णवकी सेवा व कृपासे विद्धित नहीं होते। वैष्णवजन बड़े द्विपकर रहते हैं। वैष्णवको पहचानने के लिये श्रीगौरनित्यानन्दके चरणोंमें निरन्तर प्रार्थना करनी चाहिये। उनकी कृपासे हृदय दम्भदीन व दीनतापूर्ण होनेसे गौरनित्यानन्द उस हृदयमें वैष्णवके स्वरूपका प्रकाश करते हैं। वैष्णव गौरनित्यानन्दको पहचनवा देते हैं।

वैष्णव कृष्णके शरणमें रहते हैं एवं निरन्तर भगवन्-सेवामें तत्पर रहते हैं, यही उनका अन्तर्लक्षण वा आचार है, शुद्ध हरिनाम प्रहणके अतिरिक्त साधुका वाहा आचार-असत्-सङ्गका त्याग है। वे असत्-सङ्ग सम्पूर्ण रूपसे परित्याग करके निरन्तर हरि-गुरु-वैष्णवके सङ्गमें रहते हैं। जो लोग असत्-सङ्ग त्याग करनेके लिये तनिक भी प्रयत्न न कर हरिनाम प्रहण आदि भक्तिके अङ्गोंका आचरण दिखलाते हैं, वे लोग वैष्णवप्राय वा वैष्णवाभास करे जाने योग्य हैं, शुद्ध वैष्णव नहीं हैं। इन कनिष्ठाधिकारियोंका सङ्ग करनेसे साधु-सङ्गका फल पाना असम्भव है। बहुतसे लोग अद्वालु होकर भी भजन में उन्नति नहीं कर पाते। साधु सङ्गका अभाव इसका कारण है—ऐसा जानना चाहिये। सुतरां

बुद्धिमान जीवको वही सतर्कताके साथ शुद्ध वैष्णव निर्गंय करके उनका सङ्ग व सेवा करनी चाहिये। नहीं तो कल्याणकी संभावना नहीं है।

गृहस्थ और मठवासी सबके लिये वैष्णवोंकी सेवा करनी नितान्त आवश्यक है। हमें अतिथि सेवाएँ व वैष्णव-सेवाको एक नहीं समझना चाहिये। उन्हें एक समझना भूल है। अतिथि-सेवा और वैष्णव-सेवामें भेद यह है कि अतिथि-सेवा गृहस्थ का धर्म है और वैष्णव-धर्म आत्माका धर्म है। वैष्णव उपस्थित होनेसे बड़े प्रेमसे तन, मन एवं वचन द्वारा उनकी सेवा करनी चाहिये, उन्हें हर प्रकारसे सन्तुष्ट करना चाहिये। इससे भक्तिकी उन्नति होती है। जो भगवानकी सेवाकी इच्छा रखते हैं, वे ही वैष्णवोंको वैष्णवोचित सम्मान प्रदान कर सकते हैं। वैष्णवगण कृपापूर्वक अभक्त के घर उपस्थित होने पर ही वे उनकी अतिथि रूपसे सेवा करते हैं। फलस्वरूप उन लोगोंकी अज्ञात सुकृति हो जाती है। वैष्णवको पहचानकर आन्तरिक अद्वापूर्वक उनकी सेवा करनेमें और अनजान में वैष्णव-सेवा करनेमें बहुत अन्तर होता है। साधु नहीं पहचाननेसे असाधुको साधु समझकर असत्-सङ्ग होनेकी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु सौभाग्यवश किसी सच्चे साधुकी (अनजानमें भी) सेवा लाभ होनेसे एवं निष्कपट होनेसे उनकी कृपासे मङ्गल होनेकी सम्भावना होती है। अतएव वैष्णव कौन है, उनके क्या लक्षण हैं, यह सब जानना विशेष आवश्यक है। ऐसा नहीं होनेसे उन्नति होनेमें देरी होगी, एवं बहुत बार असुविधामें भी पड़ना होगा। इसीलिये महाप्रभु कुलीन प्राम निवासी भक्तोंके प्रश्नके उत्तरमें जो वैष्णव-सेवाकी वातें कहे हैं, वही हमलोगोंको आलोचना करनी चाहिये—

अतपूर्व जार सुखे एक कृष्ण नाम ।
सेह त वैष्णव, करिह ताहार सम्मान ॥
निरन्तर कृष्ण नाम जाहार बदने ।
सेह श्रेष्ठ वैष्णव, भज ताहार चरणे ॥

जाहार दर्शनने मुखे आहुसे कृष्ण नाम ।
तांहारे जानिह तुमि वैष्णव-प्रधान ॥

शुद्ध वैष्णवकी ही सेवा करनी होगी । इसका कारण यह है कि शुद्ध वैष्णवके अतिरिक्त दूसरोंकी सेवासे वैष्णव सेवा नहीं होती । शुद्ध वैष्णवकी संख्या अल्प है—ऐसा सोच कर जिस-तिसको वैष्णव ममभक्त सेवा करनी होगी, ऐसा विचार ठीक नहीं है । भगवत् सेवा प्राप्त करनेकी सच्ची अभिलाषा रहनेसे जैसे भी हो निष्पट होकर शुद्ध वैष्णवोंकी ही सेवा करनी होगी । कनिष्ठ, मध्यम व उत्तम भेद से वैष्णवमें तारतम्य तो होता है, परन्तु नामापराधी या नामाभासी लोगोंको शुद्ध वैष्णव कहना उचित नहीं है । जो एक बार भी शुद्धनाम किये हैं, वे शुद्ध वैष्णव हैं । हम लोग सुनते हैं कि शुद्धनाम गुक्त

पुरुषोंके उपास्य हैं । अतएव वैष्णवका स्वरूप सहज ही अनुमेय है । कौन किस प्रकारके वैष्णव हैं, ऐसे विचारकी आवश्यकता नहीं है—ऐसा सोचना उचित नहीं है, उससे असुविधा ही होती है । यह बात महाभागत (श्रेष्ठ-भक्त) ही कह सकते हैं । श्रीमन्महा-प्रभु जिन कनिष्ठ वैष्णवोंकी बातें कहे हैं, वे शुद्धभक्त हैं । इस विषयमें श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने जैवधर्म प्रन्थमें लिखा है—“श्रीमन्महाप्रभुने जो उत्तम, मध्यम व कनिष्ठ वैष्णवकी बातें कही हैं, वे सब मध्यम व उत्तम वैष्णवोंके सम्बन्धमें ही हैं । उनमेंसे कोई भी केवल अर्चापूजकरूप कनिष्ठाधिकारी नहीं हैं । केवल अर्चापूजक महोदयके मुखसे कृष्णनाम नहीं होता है, छाया नामाभास होता है । नामाभासी सेवायोग्य वैष्णव नहीं होते । शुद्ध नामाश्रयी वैष्णव ही केवल सेवाके योग्य हैं ।”

मैं कौन हूँ ?

मैं माया-मोहकी घोर निद्रामें बेखबर पड़े हुए जीवोंको ज्ञान और वैराग्यके ठंडे छीटे मार कर जगाती हूँ ।

मैं धनी, गरीब, छोटे, बड़े, भले, बुरे, सबकी सहायता करनेका प्रयत्न करती हूँ; घर-घरमें चरम कल्याणका संदेश सुनाती हूँ ।

मैं भव-रोगप्रस्त, त्रितापसे पीड़ित जीवोंको भक्तिरसामृतका पान करा कर उनके सारे दुःखोंका जड़से-विनाश करती हूँ ।

मैं काम, क्रोध, मद, लोभादि शत्रुओंसे जीवोंकी रक्षा करती हूँ ।

मैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी दुर्वासिनाओं से उनके हृदयको निर्मल कर उसमें भगवद्भक्ति रूपी लताका बीज बोती हूँ ।

मैं जीवोंका भव-बन्धन काटनेके लिये पैनी तलवार हूँ ।

मैं जीवोंको जन्म-मरणके चक्करसे सदा के लिये मुक्त करके सञ्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकम्लोंकी शरणमें ले जाती हूँ ।

मैं सबका सच्चा बन्धु हूँ ।

मैं निर्बलका बल हूँ ।

मैं निर्धनका धन हूँ ।

मैं भक्तजनका प्राण हूँ ।

मैं असहायका एकमात्र सहारा हूँ ।

अब बतलाओ मैं कौन हूँ ?

मैं ही बतलाऊँ ।

मैं हूँ—‘श्रीभगवत् पत्रिका’

जो मुझे प्यार करता है, वह भगवानसे प्यार करता है ।

जो मेरी शरणमें आता है, वह भगवानकी शरणमें आता है ।

जैव-धर्म

[दूर्वं प्रकाशित वर्षं ६, संख्या ३, पृष्ठ ७० से आगे]

चौतीसवाँ अध्याय

मधुररस-विचार

आज विजयकुमार कुछ पहले ही प्रसाद-सेवा कर समुद्रके किनारे-किनारे भ्रमण करते-करते काशीमिश्र-के भवनको चले। समुद्रकी लहरियोंको देखकर उनके हृदयमें रस-समुद्रके भाव उदित होने लगे। वे भावमें विभोर होकर मन-ही-मन बोले—अहा ! यह समुद्र ही मेरे भावको उदय करा रहा है। प्रभु मुझसे जिस रस-समुद्रकी बात कहते हैं, वह इसी प्रकार है। मेरे मूल और सूक्ष्म शरीर दूर होने पर मैं रस-समुद्रके तट पर मंजरी स्वरूपमें बैठ कर रस-स्वादन कर रहा हूँ। नव-जलघर कान्तियुक्त कृष्ण ही हमारे एकमात्र प्राणनाथ हैं। उनकी बगलमें विराज-मान वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी हमारी ईश्वरी अर्थात् जीवेश्वरी हैं। राधा-कृष्णका प्रणय-विकार ही यह समुद्र है। रसके भिन्न-भिन्न प्रकारके भावसमूह ही ये तरंगमालाएँ हैं। जब जो भाव उठते हैं, वे ही इस रस-समुद्रकी विचित्र लहरियाँ हैं, जो तटस्थिता मुझ सखीको प्रेम-रसमें डुबा देती हैं। रस-समुद्र ही कृष्ण हैं; अतएव समुद्रका वर्ण भी ठीक कृष्णके वर्ण जैसा ही है। उसमें प्रेम-तरंग श्रीमती राधाजी हैं; इसीलिये इस समुद्रकी तरंगोंका वर्ण गौरवर्ण अर्थात् उज्जवल वर्ण है। बड़ी-बड़ी लहरें सखियाँ हैं और छोटी-छोटी लहरियाँ सखियों-की परिचारिकाएँ हैं। मैं उनमेंसे दूर तट पर फिटकी हुई एक अरुपरिचारिका हूँ। इन सुन्दर भावनाओंके द्वारा विजयकुमार बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी देर बाद उनको बाह्य ज्ञान हुआ। अब वे धीरे-धीरे श्रीगुरु-

देवके पास पहुँचे और उनको साष्टिंग प्रणाम कर उनके समीप बड़ी दीनतापूर्वक बैठे।

विजयकुमारके बैठ जाने पर श्रीगुरु गोस्वामीने बड़े ही प्रेमपूर्वक कहा—‘विजय ! तुम्हारा सब प्रकारसे कुशल तो है न ?’

विजय—‘प्रभो ! आपकी कृपा ही हमारे सम्पूर्ण मङ्गलका मूल है। मैं सखियोंके अनुगत होनेके लिये सखियोंका भेद भलीभाँति जानना चाहता हूँ।’

गोस्वामी—‘विजय ! सखियोंकी महिमाका वर्णन करना जीवोंके बूतेसे बाहरकी बात है। फिर भी हमने श्रीरूपके अनुगत होकर इसे अनुभव किया है। ब्रजसुन्दरी सखियाँ ही प्रेमलीलाकी ठीक-ठीक विस्तारकारिणी हैं। वे ही ब्रजयुगलके विश्वासके भण्डार स्वरूप हैं। सौभाग्यवान व्यक्ति ही उनके सम्बन्धमें भलीप्रकार विचारोंको जानना चाहता है। यूथानुरक्त सखियोंमें भी पहलेकी तरह अधिका, समा और लघु तथा प्रखरा, मध्या और मृद्गी भेद हैं। इन सब भेदोंको मैंने कल ही तुमको बतलाया है; इनके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीके प्रमाण बचन सर्वदा स्मरण रखने योग्य हैं—

प्रेम-सौभाग्यसादृगुणवाचाधिक्यादधिका सखी ।

समा तत्साम्यतो ज्ञेया तल्लभुत्वात्तथा जघुः ॥

दुकर्लङ्घयवाच्य प्रखरा प्रक्षवाता गौरवोचिता ।

तदुनन्वे भवेन्मृद्गी मध्या तत्साम्यमागता ॥

आत्यन्तिकाधिकत्वादि भेदः पूर्ववदन्त्र सः ।

स्वयूथे यूथनाथैव स्यादत्रात्यन्तिकाधिका ॥
सा क्वापि प्रखरा यूथे क्वापि मध्या सृदुः क्वचित् ॥५४
(उद्जबल-सखी प्र. १)

विजय—आत्यन्तिकाधिका यूथेश्वरी अपने यूथमें सबसे प्रधाना होती हैं। वे स्वभावके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं—आत्यन्तिकाधिका प्रखरा, आत्यन्तिका मध्या और आत्यन्तिकाधिका मृद्दी। आपने इनका वर्णन पहले ही किया है। अब कृपाकर उनके विषयमें विस्तारपूर्वक बतलाइये।

गोस्वामी—केवल यूथेश्वरियाँ ही आत्यन्तिकाधिका होती हैं। यूथकी सभी सखियाँ आपेक्षिकाधिका, आपेक्षिकसमा और आपेक्षिक लघ्वी-भेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती है अर्थात् नौ प्रकारकी होती हैं; जैसे—

(१) आपेक्षिकाधिका प्रखरा, (२) आपेक्षिकाधिका मध्या, (३) आपेक्षिकाधिका मृद्दी, (४) आपेक्षिकसमा प्रखरा, (५) आपेक्षिकसमा मध्या, (६) आपेक्षिकसमा मृद्दी, (७) आपेक्षिक लघु प्रखरा, (८) आपेक्षिक लघु मध्या, (९) आपेक्षिक लघु मृद्दी।

आत्यन्तिक लघु भी दो प्रकारकी हैं—आत्यन्तिक लघु और समालघु। नौ और ये दो मिलकर म्यारह हूईं। यूथेश्वरीको मिलाकर बारह प्रकारकी नायिकाएँ एक-एक यूथमें होती हैं।

विजय—प्रभो ! प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सखियोंका यूथ बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—‘ललिता आदि सखियाँ श्रीमती राधाके यूथमें आपेक्षिकाधिक प्रखरा श्रेणीके भीतर हैं। उसी यूथमें विशाखा आदि सखियाँ आपेक्षिका-

धिकमध्याकी श्रेणीमें हैं। चित्रा और मधुरिका आदि उसी यूथमें आपेक्षिकाधिक मृद्दी श्रेणीमें हैं। श्रीमती राधिकाकी तुलनामें श्रीललिता आदि अष्टसखियाँ ही लघु हैं।

विजय—उन आपेक्षिक लघु प्रखरा सखियोंके कितने भेद हैं ?

गोस्वामी—लघु-प्रखरा वामा और दक्षिणाके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं।

विजय—वामाके क्या लक्षण हैं ?

गोस्वामी—मान प्रहण करनेमें सर्वदा उत्सुक, मानकी शिथिलतामें क्रोधित तथा सहज ही नायकके वशीभूत न होनेवाली नायिका ‘वामा’ कहलाती हैं। राधिकाके यूथमें ललिता आदि सखियाँ ‘वामा’ प्रखरा कहलाती हैं।

विजय—दक्षिणाका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—जो नायिका मान नहीं करती, नायकके प्रति मुक्त वाक्यका प्रयोग करती है तथा जो नायककी मीठी बातोंके वशीभूत हो जाती है, वह ‘दक्षिणा’ कहलाती है। श्रीमती राधिकाके यूथमें तुङ्गविद्या आदि दक्षिणा प्रखरा कहलाती हैं।

विजय—आत्यन्तिक लघु कौन है ?

गोस्वामी—सर्वथा सृदु और सबसे नितांत लघु होनेके कारण कुसुमिका आदि सखियोंको आत्यन्तिक लघु कहा जा सकता है।

विजय—‘सखियोंका दौत्य कार्य किसे कहते हैं ?’

गोस्वामी—‘दूरवर्ती नायक और नायिकाको परस्पर मिलानेके लिये अभिसार करना ही सखियोंका दौत्यकार्य है।

क्षेत्र-सौभाग्य और सद्गुणोंकी अधिकतासे सखियोंमें से कोई ‘अधिका’ कहलाती है, कोई उन गुणोंकी समानताके कारण ‘समा’ तथा कोई-कोई उन गुणोंमें लघु होनेके कारण लघुके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस सखीकी बातका सहज ही लंघन नहीं किया जाय, वह सखी ‘प्रखरा’के नामसे प्रखरात है। प्रखरा सखी गौरवयुक्त होती है। गौरवकी न्यूनतासे ‘मृद्दी’ और समानतासे ‘मध्या’के नामसे उक्त होती है। इन सखियोंमें आत्यन्तिकाधिकत्व आदि भेद भी समझना होगा। इस जगह अपने यूथमें यूथेश्वरी ही ‘आत्यन्तिकाधिका’ होती है। वही अन्यत्र प्रखरा या सृदु भी होती है।

विजय—‘सखियोंमें क्या नायिकात्व है ?

गोस्वामी—यूथेश्वरी नित्यनायिका हैं। आपेक्षिकाधिका प्रखरा, आपेक्षिक मध्या एवं आपेक्षिकाधिका मृद्दी—इनमें नायिकात्व और सखीत्व दोनों ही धर्म होते हैं। अपनेसे लघुके सम्बन्धमें नायिकात्व और अपने से अधिकके सम्बन्धमें सखित्व होनेके कारण उनको नायिका प्राय कहा जा सकता है। आपेक्षिक समा प्रखरा, मध्या और मृद्दागण द्विसमा हैं अर्थात् अधिकके सम्बन्धसे सखी और लघुके सम्बन्धसे नायिका हैं। आपेक्षिकी लघु, प्रखरा, मध्या और मृद्दी वे अधिकांश सखी हैं। आत्यन्तिकी लघु यूथेश्वरी और उपरोक्त तीन प्रकारकी सखियोंकी गणनाके अनुसार पाँचवी श्रेणीमें होती हैं। वे नित्यसखी हैं। यूथेश्वरीके सम्बन्धमें आपेक्षिकी सखियों सखी और दूती होती हैं, नायिका नहीं। आत्यन्तिकी लघु अर्थात् नित्यसखीके लिये सभी नायिका हैं, दूती नहीं।

विजय—सखियों में दूती कौन हैं ?

गोस्वामी—यूथेश्वरी नित्य नायिका हैं, सबकी आदरकी पात्री होनेके कारण उनका मुख्यरूपमें दूती का कार्य नहीं है। अपने यूथमें जो सखी अपनी यूथेश्वरीको अधिक प्रिय होती है, यूथेश्वरी उसको दूतीके कार्यमें नियुक्त करती है। कभी-कभी यूथेश्वरी भी उस सखीके प्रणयके कारण गौणरूपसे दूतीका कार्य करती है। दूरके स्थानोंमें आना-जाना छोड़कर जो दौत्यकार्य होता है—वह गौण है। वह कृष्णके सामने और परोक्ष भेदसे दो प्रकारका होता है।

विजय—कृष्णके सामने दूत्य कितने प्रकारका होता है ?

गोस्वामी—सांकेतिक और वाचिक-भेदसे वह दौत्यकार्य दो प्रकारका होता है।

विजय—सांकेतिक कैसा होता है ?

गोस्वामी—कनखी, भौंहों, दूसरे इशारोंसे कृष्णको सखीके निकट भेजना ही ‘सांकेतिक’ दौत्य है।

विजय—वाचिक किस प्रकार होता है ?

गोस्वामी—आमने-सामने या पीछेसे परस्पर बात-चीत द्वारा जो दूत्य किया जाता है; उसे ‘वाचिक’ दूत्य कहा जाता है।

विजय—परोक्ष दूत्य कैसा होता है ?

गोस्वामी—सखीद्वारा कृष्णके पास दूसरी सखी का अर्पण किया जाना, अथवा कृष्णके पास सखीको भेजना—यह सब परोक्ष दौत्यका कार्य है।

विजय—नायिकाप्राया दूत्य कैसा होता है ?

गोस्वामी—आपेक्षिकाधिका प्रखरा, मध्या और मृद्दी, ये तीन प्रकारकी सखियाँ अपनेसे लघु सखियों के लिये जब दूतीका कार्य करती हैं, तब उन्हें ‘नायिका प्राया’ दूत्य कहा जाता है। उनमें समा और मध्या इन दोनों सखियोंमें बहा ही मधुर और अभेद सौहार्द होता है। प्रेम-विशेषज्ञ व्यक्ति ही उसे समझ सकते हैं।

विजय—सखीप्राय दूत्य कैसा होता है ?

गोस्वामी—लघुप्रखरा, लघुमध्या और लघुमृद्दी—ये अधिकांश रूपमें दूतीका कार्य करती हैं। इसी-लिये इनके दूत्यको ‘सखीप्राय’ दूत्य कहते हैं।

विजय—फिर नित्यसखी कैसी होती है ?

गोस्वामी—नायिकात्वकी आपेक्षा न कर सखीत्व में ही जिनकी प्रीति होती है, उन्हें नित्यसखी कहते हैं। नित्यसखी दो प्रकार की होती हैं—आत्यन्तिकी लघु और आपेक्षिक लघु।

विजय—प्रखरा आदि स्वभाव क्या किसी विशेष सखीका नित्यस्वभाव है ?

गोस्वामी—स्वभाव होने पर भी देश-कालके अनुसार उनका बदल भी होता है। जैसे-राधिकाके मान भंगके समय ललिताका प्रयत्न।

विजय—ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमती राधिका के प्रयत्नसे सखियोंका कृष्णसे सब समय संगम होता है।

गोस्वामी—इसमें एक रहस्य है। जब सखी दूतीकार्यमें नियुक्त होकर किसी निर्जन स्थानमें कृष्णसे मिलती है और उस समय कृष्ण उससे संगम

की यदि प्रार्थना भी करते हैं, तब सखी उससे सहमत नहीं होती, सहमत होनेसे प्रियसखीका उस सखीके ऊपरसे दूत्यविश्वास उठ जाता है।

विजय—सखियोंकी किया कैसी होती है ?

गोस्वामी—सखियोंकी सोलह प्रकारकी कियाएँ होती हैं—(१) नायकका नायिकासे तथा नायिकाका नायकसे एक-दूसरेका गुण वर्णन करना, (२) एक-दूसरेके प्रति आसक्ति बढ़ाना, (३) उनका परस्पर अभिसार करवाना, (४) कृष्णके निकट सखीको समर्पण करना, (५) परिहास, (६) आश्वासन प्रदान करना, (७) वेश-रचना करना, (८) दोनोंके मनोगत भावोंको एक-दूसरेके सामने प्रकट करनेकी कुशलता, (९) दोष-छिद्र छिपानेकी पटुता, (१०) पति आदिको वंचना करनेकी शिक्षा देना, (११) उचित समयपर नायक और नायिकाका मिलन कराना, (१२) चामर-व्यजनसे सेवा करना, (१३) विशेष स्थलपर नायक और नायिकाका तिरस्कार करना, (१४) संदेश भेजना, (१५) नायिकाके प्राणोंकी रक्षा करना और (१६) सब खियोंमें प्रयत्न करना। इन सबके उदाहरण हैं, जो अतीव चमत्कार हैं।

विजय—प्रभो ! संकेत मिल गया; उन उदाहरणों को उज्ज्वलनीलमणि-प्रन्थमें देख लूँगा। अब बहुत कुछ समझमें आरहा है। प्रभो, अब मैं कृष्ण और सखियोंमें परस्पर जो प्रेमनिष्ठा होती है, उसे जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—स्वपक्ष-सखियाँ कृष्णमें तथा अपनी यूथेश्वरीमें असम और समस्नेह रखनेके कारण दो प्रकारकी होती हैं।

विजय—‘असमस्नेह’ सखियाँ कौन हैं ?

गोस्वामी—‘असमस्नेह’ सखी दो प्रकारकी होती हैं। कोई-कोई अपनी यूथेश्वरीको कृष्णसे अधिक स्नेह करती हैं। जो ‘मैं हरिदासी हूँ’—ऐसा समझ कर दूसरे यूथमें मिलित न होकर केवल यूथेश्वरीके प्रति पूर्ण स्नेहवती रहकर भी उससे अधिक कृष्णको स्नेह करती हैं, वे हरिमें अधिक स्नेहवती कहलाती हैं। जो ‘मैं सखीदासी हूँ’—ऐसा मानकर कृष्णसे

भी अधिक अपने सखीको अधिक स्नेह करती हैं, वे सखीमें अधिक स्नेहवाली कहलाती हैं।

विजय—वे कौन हैं ?

गोस्वामी—पाँच प्रकारकी सखियोंमें जिनको केवल सखी कहा गया है, वे कृष्णस्नेहाधिका सखी हैं। और उन पाँचोंमें प्राणसखी और नित्यसखी—ये दोनों प्रकारकी सखियाँ सखीस्नेहाधिका हैं।

विजय—समस्नेह सखियाँ कौन हैं ?

गोस्वामी—जिनका कृष्ण और यथेश्वरी दोनों के प्रति समान स्नेह होता है, वे समस्नेही हैं।

विजय—सखियोंमें सबसे अेष्टु कौन है ?

गोस्वामी—जो सखियाँ श्रीमती राधा और कृष्ण दोनोंके प्रति समान प्रेम रखती हुई भी अपने को श्रीराधाका निजजन (प्रियपात्री) समझती हैं, वे सबसे अेष्टु हैं एवं उनको प्रिय सखी और परम प्रेष्टु-सखी कहा जाता है।

विजय—प्रभो ! सखियोंमें पक्ष और प्रतिपक्षका भेद कैसा होता है।

गोस्वामी—समस्त ब्रजसुन्दरियाँ स्वपक्ष, सुहृत पक्ष, तटस्थ और प्रतिपक्ष भेदसे चार प्रकारकी होती हैं। सुहृतपक्ष और तटस्थ ये प्रासंगिक हैं। स्वपक्ष और प्रतिपक्ष भेद ही रसप्रद हैं।

विजय—स्वपक्ष-प्रतिपक्षका विशेषरूपसे वर्णन कीजिए।

गोस्वामी—स्वपक्षके सम्बन्धमें मैंने प्रायः सभी बातें बतला चुका हूँ। अब सुहृदपक्ष आदि भेदोंका बतलाऊँगा। इष्ट साधक और अनिष्ट साधक भेदसे सुहृदपक्ष दो प्रकारकी होती हैं। जो विपक्षका सुहृद-पक्ष होती है, वे तटस्थ कहलाती हैं।

विजय—अब विपक्षके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जो इष्टहानि और अनिष्ट करती हुई विरुद्ध आचरण करती हैं, वे परस्पर विद्वेषवशतः विपक्ष कहलाती हैं। छल, इष्ट्या, चपलता, असूया, मत्सरता, दुःख और गर्व आदि भावसमूह विपक्ष सखियोंमें प्रकाशिक होते हैं।

विजय—गर्व कैसे व्यक्त होता है ?

गोस्वामी—अहंकार, अभिमान, दर्प, उद्दसित,

मद और औद्धत्य आदि भेदसे गर्व छः प्रकारसे व्यक्त होता है।

विजय—यहाँ अहंकार कैसा होता है?

गोस्वामी—अपने पक्षके गुणवर्णनके समय दूसरे पक्षके प्रति जो आचेष होते हैं, उसे अहंकार कहते हैं।

विजय—यहाँ अभिमानका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—भाव-भङ्गी द्वारा स्वप्नहसी प्रेमोत्कर्पताको व्यक्त करना ही 'अभिमान' है।

विजय—इपि किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विहारोत्कर्पसूचक गर्व ही 'इपि' कहलाता है।

विजय—उद्धसित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विपक्षके प्रति जो साक्षात् उत्थास होता है, उसे 'उद्धसित' कहते हैं।

विजय—मद किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो गर्व सेवा आदिकी उत्कर्पता साधन करता है, उसे यहाँ पर 'मद' कहते हैं।

विजय—औद्धत्य क्या है?

गोस्वामी—स्पष्ट रूपसे अपनो उत्कर्पताका बखान करना ही औद्धत्य है। सखियोंकी शिलष्ट उक्ति और निन्दा गर्व होता है।

विजय—क्या यूथेश्वरियाँ भी साक्षात् रूपसे ईर्ष्या प्रकाश करती हैं?

गोस्वामी—नहीं, यूथेश्वरियाँ वही गम्भीर होती हैं, वे विपक्षके प्रति साक्षात् रूपमें ईर्ष्या प्रकाश नहीं करती यहाँ तककि सखियाँ प्रखरा होनेपर भी वे विपक्ष की यूथेश्वरियाँके सामने छोटी बातें नहीं बोलती हैं।

विजय—प्रभो, ब्रजलीलामें यूथेश्वरियाँ नित्य-सिद्ध भगवच्छक्ति हैं। उनमें इस प्रकार हृषे आदि भावोंके रहनेका तात्पर्य क्या है? यह सब देखकर विमुख तार्किक लोग ब्रजलीलाके परमतत्त्वके प्रति अवज्ञा करते हैं; उसका मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्वमें भी इसीप्रकार ईर्ष्या आदि भाव रहें, तो इस संसारके कार्योंमें ईर्ष्या आदिको बुरी हालिये क्यों देखा जाता है? उनसे वैराग्यका

कारण क्या है? प्रभो! हम श्रीधाम नवद्वीपमें निवास करते हैं; वहाँ पर श्रीकृष्णचैतन्य देवकी इच्छासे सब तरहके वर्दिमुख लोग दिखलायी पड़ते हैं। कोई नितांत कर्मकांडी होते हैं, कोई बन्धा तर्क-प्रिय होते हैं, कोई ज्ञानकांडी होते हैं और अधिकांश ही निन्दक होते हैं। वे लोग कृष्णलीलामें दोष निकालते हैं तथा उस अपूर्व और चिन्मयी लीलाको मायिक समझकर उसकी अवहेलना करते हैं। कृपाकर आप इस विषय को स्पष्ट रूपमें समझानेकी कृपा करें, जिससे मेरा चित्त उढ़ हो सके।

गोस्वामी—जो नितांत अरसिक है, वे ही ऐसा कहा करते हैं कि हरिप्रियजनोंके प्रति द्वेष आदिका प्रयोग करना अनुचित है। इस विषयपर गूढ़ रूपसे विचार करनेसे ऐसा देखा जाता है कि करोड़ों काम-देवको भी मोहित करनेवाले अघनाशक कृष्णके प्रियनर्म सखा शृङ्गारस ब्रजमें मूर्तिमान होकर विराजमान हैं। वे ही विजातीय भावमय पक्षोंके सम्बन्धमें परस्पर सपरिवार ईर्ष्या आदिको मिलनके समय कृष्णकी परितुष्टिके लिये नियुक्त किया करते हैं परन्तु वास्तवमें उनकी परस्पर ईर्ष्या नहीं होती। उनकी ईर्ष्या आदि स्नेहका ही रूपान्तर मात्र है।

विजय—प्रभो, हम चुद्रजीव हैं; इतना गूढ़ विषय हमारे हृदयमें सहज ही उदित नहीं होता। आप कृपाकर इस तत्त्वको कुछ स्पष्टरूपसे बतलावें जिससे हमारा कल्याण हो।

गोस्वामी—प्रेम-रस दूधके समुद्रके समान है। जिस प्रकार दुध-समुद्रमें गोमूत्र मिलानेसे वैरस्य होता है, उसी प्रकार प्रेमरसमें तर्करूप गोमूत्रको मिलानेसे वैरस्य उत्पन्न होता है। इन विषयमें तत्त्व विचार करना अच्छा नहीं; क्योंकि वही सुकृतिके फलस्वरूप भक्तिदेवी जिसके हृदयमें चिदाहादिनी बल प्रदान करती हैं, वे बिना किसी तर्कके ही सार सिद्धान्तको प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी तरफ युक्तिके द्वारा चाहे जितना भी विचार किया जाय न क्यों अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें सिद्धान्त उदित नहीं होते हैं, वरन् कुतर्कके फलस्वरूप कुतर्की हृदयमें उदित

होते रहते हैं। तुम अतीव सौभाग्यशाली जीव हो—भक्ति देवीकी कृपासे सबकुछ जान सके हो। फिर भी सिद्धान्तको हट करनेके लिये मुझसे जो जिज्ञासा कर रहे हो, उसे मैं अवश्य ही बतलाऊँगा। तुम तार्किक नहीं हो, ज्ञान काण्डी भी नहीं हो तथा नितांत वैधी भवितके उपासक भी नहीं हो तुमको कोई भी सिद्धान्त बतलानेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। जिज्ञासु हो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके जिज्ञासु केवल शुष्क युक्तिका आश्रय कर जिज्ञासा करते हैं, दूसरे प्रकारके जिज्ञासु भक्तिकी सत्ताको विश्वासकर स्वतःसिद्ध प्रत्यय (विश्वास) जिससे संतुष्ट होता है, उसी प्रकार विचार करते हैं। शुष्क मुक्ति वादीकी जिज्ञासाका कोई उत्तर नहीं देना चाहिए। इसका कारण यह है कि सत्यके सम्बन्धमें उसका कदापि विश्वास नहीं होगा। उसकी युक्ति मायावद्ध होती है। अतएव अचिन्त्य भावोंके विषयमें उसकी युक्तियाँ गतिशील नहीं होती, बहुत हुड़जत करके भी अविचिन्त्य भावों के सम्बन्धमें तनिकभी प्रवेश नहीं कर पाती। मायिक तर्क-वित्तका चरमफल यही होता है कि परमेश्वरके सम्बन्धमें उसका रहा-सहा विश्वासभी उठ जाता है। भक्तिपक्षके विचारकगण अधिकार भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। शृङ्गारसमें जिनका अधिकार पैदा हो गया है, वे ही सद्गुरु प्राप्त करनेपर उनसे इस तत्त्वको समझ सकते हैं। विजय, वृन्दावन-लीलारस क्या ही अपूर्व है, यह जड़ जगत्‌के शृङ्गारसके जैसा तत्त्व होनेपर भी उससे सर्वथा विलक्षण होता है। भीमदूभाग्यवत्के रासपद्मचाध्यायमें कहते हैं कि इस लीलाकी जो आलोचना करते हैं, उनका हृद्रोग जड़ से दूर होजाता है*। बद्धजीवका हृद्रोग क्या है? जड़ीय काम ही यह हृद्रोग है। रक्त-मांस आदि सप्तधातुमय स्त्री-पुरुषाभिमानी शरीर और मन-बुद्धि-अहंकारगत वासनामय अभिमानरूप लिंग-देहको आश्रयकर जो काम रहता है, उसे सहज ही दूर करने की शक्ति किसीकी भी नहीं है। उसे तो एकमात्र

त्रजलीलाके भद्रापूर्वक अनुशीलनके द्वारा ही दूर किया जासकता है। इसी सिद्धान्तमें ही वृन्दावन लीलाके शृङ्गारसकी एक अपूर्व चमत्कारिता देख पाओगे। यह शृङ्गारस आत्माराम-लक्षण निर्विशेष ब्रह्मको अत्यन्त दूर फेंककर विराजमान है। पुनः ऐश्वर्यमय चिद्वजगत् अर्थात् परव्योम वैकुंठके रसको भी अपनी तुलनामें अतिशय लघुकर नित्य देवीप्यमान है। इस रसकी महिमा ही सबसे ऊँची है। इसमें सान्द्रानन्द है; गुण्ठानन्द, जड़ानन्द, संकुचितानन्द आदि कुछ भी नहीं हैं। यह पूर्णानन्दस्वरूप है। इस पूर्णानन्द में जो अनन्त विचित्रभावसमूह हैं, वे रसकी पूर्णता साधन करनेके लिये अनेक स्थलमें परस्पर विजातीय भावापन्न हैं। वे विजातीय भावसमूह कहीं स्नेहात्मक और कहीं द्रेषादि भावात्मक होते हैं। परन्तु जड़ीय द्रेषादि जिस तरह हेय और घृणित होते हैं, वे इनके विपरीत अत्यन्त उपादेय और स्फृहणीय होते हैं। वे परमानन्दके विकार वैचित्र्यमात्र हैं। रससमूहकी लहरियोंकी भाँति उठकर समुद्रको लहराते हैं। अतएव श्रीरूपगोस्वामीका सिद्धान्त यह है कि भाव विचित्र हैं। उनमें जो भाव सब तरहसे एकजातीय होते हैं, वे स्वप्नगतभाव हैं। योदी सी विजातीयता रहनेसे वे सुहृतगतभाव होते हैं। जहाँ सजातीयता की अल्पता होती है—वहाँ भाव तटस्थ कहलाते हैं। जहाँ सम्पूर्णरूपसे विजातीयता होती है, वहाँ भाव विपक्षगत हैं। देखो, जब भाव विजातीय होते हैं, जब परस्पर रुचिप्रद नहीं होते; अतएव उस परमानन्द रसमें किसी प्रकार ईर्ष्या आदिकी उत्पत्ति साधन करते हैं।

विजय—पक्ष और विपक्ष भाव क्यों स्थान पाते हैं?

गोस्वामी—जब दो नायिकाओंके भाव परस्पर एक समान होते हैं, तभी पक्ष और विपक्षके भाव उद्दित होते हैं। अतएव मैत्रभाव और विद्वेष-

वह भी अखण्ड शृङ्खार रसकी मृद्धिके लिये ही होता है—ऐसा समझना चाहिए।

वह भी अखण्ड शृङ्खाररसकी समृद्धिके लिये ही होता है—ऐसा समझना चाहिए।

विजय—क्या श्रीराधा और चन्द्रावली-ये दोनों तत्त्व विषयमें समान शक्तियाँ हैं?

गोस्वामी—नहीं। श्रीमती राधिकाही महाभाव-मयो हादिनीकी सार हैं। चन्द्रावली श्रीमती राधिका

की कायब्यूह हैं और अनन्त अंशोंमें उनसे छोटी हैं। तथापि शृङ्खाररसमें श्रीराधाके प्रेमरसकी पुष्टिके लिये चन्द्रावलीमें राधा जैसा एकभाव अपूर्ण कर विपक्षता उत्पन्न किये हैं। फिर देखो दोनों युधेश्वरियोंमें भावकी सम्पूर्ण सजातीयता भी नहीं हो सकती। यदि किसी अंशमें हो भी तो वह केवल नाम मात्रके लिये होता है। वास्तवमें स्वामाविक रूपमें ही स्वपक्ष विपक्ष भावोंका उदय होता है।

(क्रमशः)

— — —

श्रीश्रीब्रजमंडल-परिक्रमाका विराट आयोजन

प्रिय महोदयगण !

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति इस वर्ष पहले-पहले वर्षोंकी तरह श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा में आगामी १८ आश्विन, ४ अक्टूबर, मंगलवारसे श्रीउर्जब्रत (कार्त्तिक-ब्रत) का पालन करने जा रही है। इसके उपलक्ष्यमें श्रीश्रीब्रजमंडलकी परिक्रमाका विराट आयोजन किया गया है। समितिके प्रतिष्ठाता एवं आचार्य परमहंस मुकुटमणि परिव्राजकाचार्य १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी बहुतसे साधु-संत भक्त और सद्गुर मंडलीके साथ यहाँ पधार रहे हैं। आगामी २७ आश्विन, १३ अक्टूबर, वृहस्पतिवारकी रातके दा। बजे हावड़ा (कलकत्ता) से एक रिजर्व ट्रेन रवाना होगी, जो यात्रियोंको गया, काशी और प्रयाग आदि तीर्थोंका दर्शन कराती हुई श्रीमथुरा धामको पहुँचेगी। श्रीदामोदर ब्रतके दिनोंमें उपरोक्त स्थानपर प्रतिदिन श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंके प्रवचन, संकीर्तन, धर्मसभाओं तथा धाम-परिक्रमका सुन्दर कार्यक्रम है।

प्रार्थना है, आप इष्ट-मित्रों और बन्धुओंके साथ उक्त समयपर यहाँ प्रतिदिन पधारकर अथवा पूर्णरूपसे योगदान कर भक्ति-उन्मुखी सुकृति अर्जन करें।

निवेदक—श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सम्प्रवृन्द